Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष

(EXISTENTIALISM : FOR AND AGAINST)

पॉल रूबिचेक

अनुवादक

डॉ० प्रभाकर माचवे

मध्यप्रदेश
हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

श्री
अम्बिका दत्तशर्मा
7·1·88

At first be Intuned with Individuality - Ever try to prolonged it -------- up to Universality --- Unto the last found- Oneness with Sublimity.

A.D. Sharma
7.1.88

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष

(EXISTENTIALISM—FOR AND AGAINST)

पॉल रुबिचेक

अनुवादक

डॉ० प्रभाकर माचवे

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अस्तित्ववाद : पक्ष और विपक्ष

Existentialism—For & Against by Paul Roubiczek

प्रकाशक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

१७, मालवीय नगर, भोपाल

संस्करण	:	१९७३
सर्वाधिकार	:	प्रकाशकाधीन
मूल्य	:	१०-०० रु०

Published by Madhya Pradesh Hindi Granth Academy under the centrally sponsored scheme of production of books and literature in regional languages at the university level, of the Government of India in the Ministry of education and social welfare (Department of Culture) New Delhi.

मुद्रक : साधना प्रेस, लोहिया बाजार, ग्वालियर

3000 P-73

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रस्तावना

विगत कुछ वर्षों में दर्शन या चिन्तन अपने पूर्व-निश्चित दायरों से निकलकर यथार्थ और व्यवहार की ठोस भूमि पर आ खड़ा हुआ है। ऐसा दर्शन जो जीवन की वास्तविक समस्याओं का समाधान नहीं करता, चाहे कितना ही सूक्ष्म तथा गम्भीर क्यों न हो ग्राह्य नहीं माना जाता। बुद्धिवाद के युग में कल्पना की ऊँची उड़ानों का जो महत्त्व था वह अब धीरे-धीरे समाप्त हो चला है। भारत में शंकराचार्य का दर्शन बुद्धिवादी चिन्तन की पराकाष्ठा है। इस प्रकार के यूरोपीय चिन्तन को पहला धक्का डार्विन और दूसरा नीट्त्से ने दिया। डार्विन ने मनुष्य को उसका असली रूप पहचानने को विवश किया। नीट्त्शे ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कोई वस्तु सत्य नहीं है और कोई भी चीज नियत या निरपेक्ष नहीं है। नीट्त्शे ने सभी परिपाटियों और पूर्वाग्रहों से हटकर बिना किसी पूर्वधारणा के जीवन का प्रत्यक्ष सामना करने का प्रयत्न किया। नीट्त्शे उन लोगों में है जो यह मानते हैं कि मनुष्य महामानव या अतिमानव बनने के बदले पतन की ओर भी चला जाता है और वह फिर बन्दर या कोई अमानुषिक प्राणी बन सकता है। इस दिशा में हक्सले का भी स्वतन्त्र योगदान है जिसने कहा कि मैं मनुष्य को देवता के स्थान पर ले जाना पसन्द नहीं करता। यद्यपि पहले भी ऐसा होता रहा है और अब भी हो रहा है।

इस धारा में कीर्केगार्ड का नाम उल्लेखनीय है क्योंकि उसी के साथ वर्त्तमान अस्तित्ववाद-सम्बन्धी मान्यता पूर्ण रूप ग्रहण करती दिखायी देती है। उसका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चिन्तन विभीषिका के सम्प्रत्यय से जनित है। उसका चिन्तन एक ऐसे व्यक्ति की अनुभूति है जिसके नीचे की जमीन खिसक गयी हो और जिसका ईश्वर पर से भी विश्वास उठ गया हो अर्थात् जो तर्कबुद्धि को एक ओर रखकर यह सोचे कि अब सब कुछ समाप्त हो जायगा। इस काल के चिन्तकों ने निरपेक्ष नैतिकता पर भी कसकर प्रहार किये। यह सब कुछ सांसयिक मनःस्थिति का चिन्तन है, जहाँ क्षण का मूल्य है। द्वितीय महायुद्ध ने इस विभीषिका को और गहरा किया और बहुत से जर्मन और फ्रेन्च चिन्तक एक नया दर्शन लेकर सामने आये। इसे हम अस्तित्ववाद कहते हैं। यह जिजीविषा का संघर्ष है। शिक्षा, दर्शन, मनोविज्ञान और साहित्य में इसे अस्तित्ववाद की संज्ञा मिली। प्रारम्भ में इसके पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा गया, लिखा गया। पॉल रुबिचेक की पुस्तक एक्जिस्टेंशियलिज्म समस्या के उभय पक्षों पर प्रकाश डालती है। यह विषय की प्रामाणिक पुस्तकों में है इसीलिए जब डॉ० प्रभाकर माचवे कृत इसका हिन्दी अनुवाद सामने आया तो मुझे प्रसन्नता हुई। किन्तु अनुवाद को गहराई से देखने पर पता लगा कि यह काम लगभग दुबारा किया जाना आवश्यक है। अकादमी के प्रकाशन विभाग और ग्रन्थ के मुद्रक दोनों ने बड़े परिश्रम और लगाव से इस ऊब देनेवाले कार्य को सम्पन्न किया है। निश्चय ही इस अनुवाद का रूप अपेक्षाकृत काफी निखर गया है।

मुझे हिन्दी भाषी पाठकों के समक्ष यह पुस्तक प्रस्तुत करते हुए सन्तोष हो रहा है क्योंकि हिन्दी में इस विषय पर बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। यद्यपि बहुत से विश्वविद्यालयों में यह विषय पाठ्यक्रम में स्थान पा चुका है। इस पुस्तक से साहित्य, शिक्षा और दर्शन तीनों संकायों को लाभ होगा।

संचालक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भूमिका

यह पुस्तक दो पाठ्यक्रमों के लिए दिये गये व्याख्यानों पर आधारित है। एक का नाम था "आधुनिक दर्शन के कुछ पहलू" और दूसरे का "अस्तित्ववाद की ओर और उससे परे।" ये व्याख्यान कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पाठ्येत्तर अध्ययन मण्डल के तत्त्वावधान में कैम्ब्रिज में विश्वविद्यालय विस्तार भाषणमाला के अन्तर्गत दिये गये थे। ये व्याख्यान, पूरी तरह पुनर्लिखित किये गये हैं। उसमें लिखने और बोलने की शैली का अन्तर ध्यान में रखा गया है। सामान्यतः दार्शनिक व्याख्यानों के लिए आनेवाले श्रोताओं से अधिक व्यापक श्रोतामण्डली के लिए ये व्याख्यान उपयोगी और सहायक जान पड़े, इसलिए मैंने इस नये रूप में, बोले हुए शब्द का सीधा-सादा रूप कहीं-कहीं रखा है। श्रोताओं में सभी तरह के लोग थे : नागरिक और अध्यापक, स्नातक-पूर्व कक्षावाले विद्यार्थी और स्नातक, वैज्ञानिक और अन्य।

इन व्याख्यानों के आयोजन के लिए मैं पाठ्येत्तर-अध्ययन मण्डल का आभारी हूँ, विशेषतः मि० जॉन एण्ड्र्यू का, जिनकी प्रेरणा से यह किया गया, और मि० आर० जे० एल० किंगसफोर्ड का, जोकि विश्वविद्यालय प्रेस के सचिव थे। उन्होंने ही इसे पुस्तक रूप देने को प्रोत्साहित किया।

मेरी अन्य पुस्तकों में से छोटे अंशों का उपयोग करने की अनुमति देने की कृपा करने के लिए मेरे दो पूर्व प्रकाशकों का मैं आभारी हूँ—डार्विन फिन्लेसन, लण्दन का "धर्म की ओर चिंतन" (थिंकिग टुवर्ड्स रिलीजन) के लिए, और चार्ल्स स्क्रिवनेर्स सन्स, न्यूयार्क का "मनुष्य की गलत व्याख्या" (दि मिस—इन्टरप्रिटिशन ऑफ मैन)।

अन्त में अपने मित्र रेनी पेन और डगलस हेविट को अपनी कृतज्ञता और धन्यवाद व्यक्त करना चाहता हूँ। उन्होंने मेरी पाण्डुलिपि को बड़ी सावधानी से पढ़ा और उसमें प्रस्तुतीकरण के रूप के बारे में मूल्यवान सुझाव दिये।

पॉल रुबिचेक

क्लेर कॉलेज,
कैम्ब्रिज
एप्रिल, १९६४,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सूची

			पृष्ठ
१.	अस्तित्ववाद की ओर	...	१
२.	प्रगति या संकट—डार्विन और नीट्त्शे	...	१८
३.	नीट्त्शे और अस्तित्ववाद	...	३७
४.	कीर्केगार्ड	...	५४
५.	नैतिकता–सापेक्ष या निरपेक्ष ?	...	७१
६.	कीर्केगार्ड और अस्तित्ववाद	...	९७
७.	फ्रेंच और जर्मन अस्तित्ववाद के कुछ रूप	...	११५
८	व्यक्तिगत सम्बन्ध—मार्टिन ब्यूबर	...	१३७
९	विज्ञान और धर्म में अबुद्धितत्त्व	...	१५९
	सन्दर्भ	...	१८३
	ग्रन्थ सूची	...	१९१
	हिन्दी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली	...	१९४

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

एक

अस्तित्ववाद की ओर

बुद्धिवाद के युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में ही अस्तित्ववाद के रूपों में जन्म लेने वाले दर्शन की आवश्यकता को, कुछ हद तक, समझा जा सकता है; क्योंकि उस बुद्धिवादी युग के दार्शनिकों ने, जो अपने आपको बुद्धिवादी और विवेकवान मानने पर गर्व करते थे, एक विशेष रूप में अपनी बात को कुछ बढ़ा चढ़ाकर व्यक्त किया। बुद्धि को मनुष्य की ऐसी सर्वोच्च शक्ति ही नहीं माना गया जो सब समस्याओं का समाधान करने में समर्थ थी जो अन्त में सम्पूर्ण सर्व संग्राहक ज्ञान प्राप्त करा देती है। परन्तु उसे ऐसा भी माना गया मानों वह पूर्णतः निर्दोष और विध्यात्मक हो और इसलिए सृष्टि का सर्वोत्तम फल हो। दूसरे शब्दों में तर्कबुद्धि या विवेक को ही निरपेक्ष माना गया।

यहाँ "निरपेक्ष" शब्द के सन्दर्भ के दो अर्थ होते हैं। पहले बुद्धि ही वास्तविकता का अन्तिम छोर है, वह अव्युत्पन्न और अन्य किसी भी प्रकार से नियत नहीं है और दूसरे बुद्धि की सामर्थ्य असीम है। इस प्रकार से, यद्यपि बुद्धि में विश्वास ही अबुद्धिवादी हो जाता है, क्योंकि सारे अनुभव से यह पता चलता है कि बुद्धि मानव स्वभाव का एक अंश है, वह मानव स्वभाव से प्रभावित है, बुद्धि की शक्ति सीमित है और इसीलिए बुद्धि को अन्तिम नहीं माना जा सकता, न माना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाना चाहिए। बुद्धि का यह हिंसक, अविवेकपूर्ण मूलतः अबुद्धिवादी दावा ही ऐसा था कि अब उसके बदले में हिंसक और अब खुले तौर पर अबुद्धिवादी प्रतिक्रिया अस्तित्ववाद के रूप में सामने आयी है।

निरपेक्ष बुद्धिवाद में विश्वास अबुद्धिवादी इसलिए है कि, जैसे मैंने कहा, सारा अनुभव यही दर्शाता है कि बुद्धि की शक्तियाँ बहुत सीमित हैं, और एक विशुद्ध तर्कयुक्त, विवेकवान, वैज्ञानिक विचार-पद्धति वास्तविकता के बहुत सीमित अंश को ही प्रकाशित कर पाती है। मैं अर्थ को स्पष्ट करूँ तो मुझे पदार्थ-विज्ञान के कुछ पक्षों से उदाहरण लेने होंगे। बुद्धिवाद के युग का सबसे प्रत्यक्ष और परिणामकारी फल वही है। इसीलिए बुद्धिवाद के युग को न्यूटन का युग कहा गया। उस अत्यन्त आशावादी युग की सबसे आशावादी आकांक्षाओं से भी परे आज विज्ञान की सफलता अवश्य पहुँच चुकी है। परन्तु क्या विज्ञान ने बुद्धि की शक्ति को सीमाहीन और सब समस्याओं का समाधान करने को समर्थ सिद्ध किया है ?

सारे प्राकृतिक विज्ञानों में पदार्थ विज्ञान शायद सबसे आगे बढ़ा हुआ माना जाता है। आधुनिक पदार्थ वैज्ञानिकों ने वास्तविकता के पीछे या परे और एक वास्तविकता खोज ली है, जिसका साक्षात्कार हमें करना पड़ रहा है। यह वास्तविकता कई लोग जिसे अन्तिम मानते हैं भिन्न प्रकार की है। इस "निरपेक्ष वास्तविकता," से वे कुछ दत्त सामग्री निष्कर्ष रूप में निकाल सकते हैं, उदाहरणार्थ क्वांतुम्–सिद्धान्त जिस पर आधारित है उस प्रक्रिया का मूलभूत क्वांतुम यानी, उदाहरण के लिए उन्होंने यह खोजा कि किसी परमाणु से ऊर्जा, चाहे वैसी मात्रा में बाहर नहीं फेंकी जाती; उसका एक न्यूनतम क्वांतुम होता है, और जो भी शक्ति का परिमाण विकीरित हो वह उस न्यूनतम क्वांतुम का ही गुणनयोग्य अंश होता है। यह तथ्य, स्पष्टतः तर्क-बुद्धि से परे है। ऐसी सीमाएँ क्यों होनी चाहिए ? पदार्थ वैज्ञानिक को यह मानना होगा कि एक ऐसी वास्तविकता है कि जिसका पता तो लगता है पर जो समझी नहीं जा सकती, या जैसे कि हाइजेनबर्ग ने कहा था कि ऐसा सब ज्ञान "एक अमाप गहराई के ऊपर पुल की तरह झूल रहा है।"[१]

न तो जीव विज्ञान ही इस मामले में सहायक होगा। विकासवाद और जीन की खोज से आंगिक जगत् को समझने में काफी सहायता मिली है। किन्तु डार्विन को लमार्क के विकासवाद को अस्वीकार करना पड़ा और इसका अर्थ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह हुआ कि बुद्धिवाद को अबुद्धिवाद के समक्ष एक वार फिर घुटने टेकना पड़ा। लमार्क का दावा था कि जीव नवीन प्रतिवंशों और नवीन जीवन-निर्वाह परिस्थितियों में धीरे-धीरे अपने को उनके अनकूल वनाते हैं; और जिन प्राप्त विशेषताओं के कारण प्राणी सुन्दरतर जीवन व्यतीत करने में समर्थ होता है, वे वंशागत होती हैं और इनसे नवीन जातियों (स्पीशीज़) का उद्भव होता है। ऐसी प्रक्रिया बोधगम्य तो होती है किन्तु डार्विन ने वाध्य होकर इसे अस्वीकार किया, क्योंकि उसे इस वात का कोई प्रमाण नहीं मिल सका कि प्राप्त विशेषताएँ वास्तविक रूप से वंशागत होती हैं। इसके स्थान पर अब तो विकासवाद का आधार उत्परिवर्तन माना ज़ाता है, जिसका अर्थ होता है जीवों में अव्याख्येय रूप से आकस्मिक परिवर्त्तन होना। और इस प्रकार जो कुछ नवीन विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं, वे अविरत जीवन में लाभदायक सिद्ध होती हैं; और जीवित रहने के लिए सांघातिक संघर्ष होता है; अतः जिन व्यक्तियों में वे विशेषताएँ होती हैं, वे जीने के योग्य हो जाते हैं और चूंकि वे जीवित रहते हैं, अतः नवीन विशेषताएँ उत्तराधिकार में प्राप्त करते हैं, और नवीन जातियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु यह धारणा सम्पूर्णतः अबुद्धिवादी है, क्योंकि किसी भी विवेकपूर्ण या बुद्धिवादी उपागम से हम यह समझने में समर्थ नहीं हो सकते कि विवेक शून्य शक्तियों और आकस्मिक गुणों से ही क्यों उत्परिवर्तन होते हैं, जिनसे प्राकृतिक वरण सम्भव होता है; और जीव-जन्तुओं-पौधों, पशुओं और मनुष्यों के अपूर्व भण्डार का निर्माण होता है; सिर्फ़ यह दावा करना कि अव्यवस्था किसी प्रकार से व्यवस्था का रूप ले लेती है, हमारी बुद्धि में आने वाली बात नहीं है। क्या हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि अगर हमने वहुत दिन पहले, करोड़ों वर्ष पहले, वर्णमाला के अक्षरों को ताश की तरह फेंट दिया होता तो भी क्या हम कभी "हैमलेट" निर्माण कर सकते? अगर हम कर भी सकते—ऐसी गणनाएँ हैं जो इसे सिद्ध करती हुई प्रतीत होती हैं -तो यह तो निश्चित है कि हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि ऐसा नाटक कभी कैसे लिखा गया। फिर भी, मानव-निर्माण का श्रेय जीन-परिवर्तन को दिया जाता है। सच तो यह है कि व्यवस्था की उत्पत्ति किसी ऐसी शक्ति से ही हो सकती है, जिसका उद्देश्य व्यवस्था हो, किसी ऐसे तत्त्व से हो सकती है जो किसी व्यवस्थित प्रक्रिया के संगठन की ओर अग्रसर करता हो। किन्तु अधिकांश जीव-विज्ञानवेत्ता हमें इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बात से सचेत करते हैं कि विकास का वर्णन करते समय हम "उद्देश्य" शब्द का प्रयोग न करें।*

आधुनिक मनोविज्ञान में, अवचेतन या अचेतन की महान खोज से हमें इस सही बात की जानकारी हो गयी है कि मानवीय कार्यों का निर्धारण न केवल उन उद्देश्यों और आवेगों से होता है जिनसे हम अवगत रहते हैं, प्रत्युत् अधिक शक्तिशाली ढंग से उन अन्तः प्रेरणाओं, मूल प्रवृत्तियों, संस्कारों, जैविक तत्त्वों तथा बचपन की अनुभूतियों से होता है, जिनसे हम अवगत नहीं रहते हैं। ये हमारे अवचेतन में अन्तःस्थापित रहते हैं और इनकी पूर्ण रूप से जानकारी तब तक नहीं हो सकती है जब तक कठिन प्रक्रियाओं द्वारा उन्हें सतह पर न लाया जाये, और तब भी अवचेतन के बारे में हमारी जानकारी थोड़ी ही होती है। परन्तु, स्पष्ट रूप से, चेतना तर्कबुद्धि का आधार है, इसके बिना तर्कबुद्धि असम्भव है। अतः अगर हम अचेतन की सत्ता को स्वीकार करते हैं तो हम साथ ही साथ इस बात को भी स्वीकार कर लेते हैं कि तर्कबुद्धि की सीमाएँ हैं। तर्कबुद्धि की यह सीमा सम्भवतः सबसे अधिक निर्णायक है, क्योंकि तर्कबुद्धि-युग और इसका प्रभाव चेतना के साथ मानव के तादात्म्य पर आधारित है; अगर अचेतन की यथार्थ शक्ति है—जैसा कि अब इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं—तो तर्कबुद्धि निरपेक्ष नहीं हो सकती।

इन बातों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो सम्भवतः यह है कि चूँकि विज्ञान अवैयक्तिक है, अतः वैयक्तिक अनुभूति को जानने में हमें इससे सहायता नहीं मिल सकती। यहाँ हम उन समस्याओं के निकट पहुँचते हैं, जिनके साथ अस्तित्ववाद का सम्बन्ध है और उन कारणों को हम देख सकते हैं, जिनसे इस प्रकार के दर्शन का विकास हुआ।

प्राकृतिक विज्ञान में, गुण को घटाकर परिमाण कर दिया गया है, इससे उस मानव प्रेक्षक पर निर्भरता कम हो गयी है, जो कभी भी पूर्ण रूप से विश्वसनीय नहीं

---

* "उद्देश्य एक मनोवैज्ञानिक शब्द है, और उद्देश्य को किसी प्रक्रिया पर आरोपित करना, क्योंकि इसके परिणाम किसी वास्तविक उद्देश्यपूर्ण प्रक्रिया के परिणामों से कुछ मिलते-जुलते हैं, न्यायोचित नहीं है, और यह केवल प्रकृति के विधान पर अपने विचारों का प्रक्षेपण करना है।" जूलियन हक्सले, "एसेज़ आफ ए बायोलोजिस्ट", लंदन १९२३, पृ० १७३।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है, और उसके स्थान पर प्रयोगों, उपकरणों और फ़ोटो-प्लेटों द्वारा तोलने और मापने की अधिक विश्वसनीय विधि प्रतिस्थापित करना सम्भव हुआ है। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक विधि को उतना ही वस्तुनिष्ठ बना दिया गया है, जितना मनुष्य की शक्ति से सम्भव है। हो सकता है कि स्वयं वैज्ञानिक, वह जो कुछ कर रहा है, उसमें भावपूर्ण रूप से रुचि रखता हो, किन्तु उसके सिद्धान्तों को तभी स्वीकार किया जाता है, जब वे अवैयक्तिक प्रेक्षण और प्रयोग की कसौटी पर खरे उतरें, इनमें उसकी भावनाओं का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। साथ ही, यह विधि नियतत्त्ववाद पर आधारित है, अर्थात् कारण-कार्य के नियत सम्बन्ध की स्थापना पर आधारित है, यह एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसमें व्यावहारिक कार्यों पर विचार करते समय भी हम विश्वास करते हैं, हम उन पर कुशलता से विचार कर सकते हैं, क्योंकि हम यह मानने में समर्थ होते हैं कि अमुक कारणों से अमुक कार्य अवश्य उत्पन्न होंगे। यह सत्य है कि आधुनिक भौतिक विज्ञान में कारणता के स्थान पर प्रसम्भाव्यता रखा गया है, किन्तु व्यावहारिक उद्देश्यों की पंक्ति में इससे थोड़ा ही अन्तर पड़ता है। परमाणु रिएक्टर को जिसका निर्माण प्रसम्भाव्यता कलन पर आधारित है, उसी यथातथ्य रूप से काम करना चाहिए, जिस रूप में किसी इंजन का निर्माण प्रतिष्ठित भौतिक विज्ञान के आधार पर होता है। यद्यपि कुछ भौतिक विज्ञानी (और सम्भवतः कुछ जीव विज्ञानी भी) इसे अब स्वीकार नहीं करते, फिर भी वैज्ञानिक विधि मौलिक रूप से निश्चित रह ही जाती है; यह एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ कारणता क्रियाशील अब प्रतीत नहीं होती, फिर भी इसकी सहायता से यह क्षेत्र अभिगम्य तो बना ही दिया जाता है।*

किन्तु इसी आधार पर हम अपनी अनुभूतियों के साथ सम्भवतः न्याय नहीं कर सकते; अपने वैयक्तिक जीवन में नियतत्त्ववाद को इस रूप में हमारे लिए स्वीकार करना असम्भव है कि यह कारण कार्य की व्याख्या करने वाला एक-मात्र सिद्धान्त है। क्या हम वास्तविक रूप से संकल्प-स्वातन्त्र्य अपनी वरण, निर्णय, कार्य की स्वतन्त्रता-को अस्वीकार कर सकते हैं? क्या इसके लिए हम अपने को उत्तरदायी नहीं समझते? उत्तरदायित्व समझना हमारी आधारभूत अनुभूतियों

---

* "हम मापों के परिणामों से प्रेक्षित वस्तु के गुणधर्मों का अनुमान नहीं लगा सकते, अगर कारण-नियम से इस बात का आश्वासन न मिला होता कि इन दोनों में स्पष्ट सम्बन्ध है।" डब्ल्यू० हाइजेनवर्ग, ''फिलासोफिक प्राब्लम्स आफ न्यूक्लियर साइंस," पृ० २०

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में एक है और अस्तित्ववाद हमें यह सिखलायेगा कि अनुभूति को प्रमाण के रूप में हमें स्वीकार करना होगा; क्योंकि अगर हम इस बात को स्वीकार नहीं करते कि हम शुभ और अशुभ, सत् और असत् का स्वतन्त्र रूप से वरण करने में समर्थ हैं, हम अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होते; और इस प्रकार हम जो अनुभव करते हैं, उसे समझने में असमर्थ रह जाते हैं। केवल वस्तुनिष्ठ रूप से सोचने से अनुभूतियों के सम्बन्ध में विचार करने में हमें सहायता नहीं मिल सकती; अवैयक्तिक रूप से वर्णित अनुभूतियाँ समझी नहीं जा सकतीं। अगर, उदाहरण के लिए, हमारे सामने शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक रूप से पीड़ा की यथातथ्य वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत कर भी दी जाये जिसमें हमारे शरीर में घटने वाली समस्त प्रक्रियाएँ और तन्त्रिका प्रतिक्रियाएं शामिल हों, तो भी हमें वास्तविक रूप से पीड़ा की जानकारी नहीं होगी जब तक कि हमें इसकी अनुभूति प्राप्त न हो। और न हमें वाह्य-विचारण (विचार करने की एक रीति अर्थात् जो वस्तुनिष्ठ रूप में वाहर से प्रत्येक वस्तु के निकट पहुँचता है) विश्वसनीय मूल्य ज्ञान प्रस्तुत करने में समर्थ होगा, या इससे मूल्यों को समझने में ही सहायता मिलेगी, यह न तो उस चरम सत्य पर विचार कर सकता है, जो हमारे दृढ़ विश्वासों का आधार है, न कि शुभत्व या सौन्दर्य पर। क्योंकि वैज्ञानिक ज्ञान को एकमात्र ज्ञान के रूप में स्वीकार करने से ही वैयक्तिक निर्णय की आवश्यकता पड़ जाती है। नैतिकता वाहर ही रह जाती है, क्योंकि जैसा मैंने अभी कहा है, वरण और निर्णय की स्वतन्त्रता के बिना हम अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी नहीं होते और शुभत्व और नैतिकता का सम्पूर्ण संप्रत्ययन ध्वस्त हो जाता है। अगर मैं उत्तरदायी नहीं हूँ तो हत्या एक तथ्य मात्र रह जाती है जिसे उस समय तो रोकना चाहिए जब यह समाज के लिए हानिकर हो किन्तु जब यह समाज के लिए लाभदायक हो तो इसका प्रयोग करना चाहिए, किन्तु इसे अपराध या पाप नहीं मानना चाहिए। यह कोई सैद्धान्तिक कथन नहीं है, सभी सर्वसत्तात्मक राज्य इस सिद्धान्त का पालन करते हैं, यह हमारे युग में वास्तविक, भयानक कार्यों का आधार हो गया है।

जब तक वाह्य-विचारण को ही काम में लाया जाता है, अनुभवातीत सत्ता भी अगम्य रह जाती है; क्योंकि किसी भी मौलिक सन्दर्भ में "क्यों" प्रश्न का कभी उत्तर नहीं दिया जा सकता। हत्या क्यों होती है, क्रान्तियाँ क्यों होती हैं या रोष के स्थिर आधार क्यों हैं, मनुष्य का अस्तित्व क्यों है ? हम नहीं जानते हैं, और न हम यही जानते हैं कि भौतिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

द्रव्य, तारे, पृथ्वी क्यों हैं, और न हम यह जानते हैं, जो सम्भवतः अधिक महत्त्व-पूर्ण है कि हम जन्म क्यों लेते हैं और फिर मरते क्यों हैं, क्यों हम किसी क्षण मर सकते हैं और क्यों हम आज या कल मर जायेंगे। या जैसाकि अल्बर्ट कामू ने कहा है: हम सब यहाँ क्यों हैं, केवल मरने के लिए ? फिर भी ये सारे प्रश्न, जब हमारी वैयक्तिक अनुभूतियों में आते हैं तो किसी व्यापक आध्यात्मिक सत्ता की ओर संकेत करते हैं। हो सकता है कि इन प्रश्नों का उत्तर देने में हम कभी समर्थ नहीं हो सकें किन्तु, हम कम से कम, अर्थ देने की इच्छा से उत्तर ढूंढ निकालना चाहते हैं। हम विश्वास कर सकते हैं कि सब कुछ निरर्थक है—फिर भी अर्थ की खोज करना, हमारे प्रतीयमान निरर्थक जीवन का अनिवार्य अंग रहता ही है। क्योंकि हमारी अनेक अनुभूतियों में, प्रकृति का, मानव प्रकृति का, कलाकृतियों में, साहित्यों में, या ज्ञान या धर्म की पुस्तकों में अर्थ है और इस प्रकार अर्थ पाने का अन्तःप्रेरण इतना शक्तिशाली है कि यह हमारे स्वभाव का एक अंग है, यह एक सुस्पष्ट अनुभूति है। एक बार फिर हमें इस निष्कर्ष पर आना पड़ रहा है कि तर्कबुद्धि निरपेक्ष नहीं है, यह सीमित है, निरपेक्ष तर्कबुद्धि में विश्वास रखना अबुद्धिवादी है—और हमें एक ऐसी विचारण-पद्धति खोज निकालनी है जो इन वास्तविक अनुभूतियों के सम्बन्ध में विचार करने में सहायता प्रदान कर सके।

निस्सन्देह हम यह भी पूछ सकते थे: क्या इन अनुभूतियों मूल्य, स्वतन्त्रता, देवत्व—के सम्बन्ध में तर्कनापरक या विवेकशील रूप से विचार किया जा सकता है ? इनके सम्बन्ध में विचार तो किया जा सकता है, किन्तु तब तर्कबुद्धि न तो निरपेक्ष है न सर्वग्राही। इन सब अनुभूतियों में एक ऐसी वस्तु के स्वीकरण की अपेक्षा होती है, जो तर्कबुद्धि के परे हो—इनमें उन सीमाओं को स्वीकार किया जाता है, जिन्हें हमारी मानवीय प्रकृति निश्चित करती है, उन निरपेक्ष मूल्यों को स्वीकार किया जाता है जो न तो तर्कबुद्धि से प्राप्त किए जा सकते हैं न वैज्ञानिक विधि से सिद्ध किए जा सकते हैं, एक ऐसी अनुभवातीत सत्ता को स्वीकार किया जाता है जिसकी परिभाषा यह है कि वह अनन्त रूप में तर्कबुद्धि के परे हो। संक्षेप में, तर्कबुद्धि का प्रभुत्व नहीं होना चाहिए, उसे सहायक होना चाहिए।

यह एक विशिष्टता है, जो अस्तित्ववाद के लिए दूसरा औचित्य प्रस्तुत करती है। अब तक हमने जिस मत के सम्बन्ध में विचार किया वह यह है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तर्कबुद्धि निरपेक्ष है और इस प्रकार प्रत्येक वस्तु पर इसका प्रभुत्व होता है और यह हमारे समस्त ज्ञान का स्रोत है। किन्तु इसके विपरीत मत भी है, जिसे अस्वीकार करना कठिन होगा: कि तर्कबुद्धि किसी ऐसी अन्य वस्तु के स्पष्टीकरण में भी सहायक हो सकती है, जिसे पहले स्वीकार करना है और उसके बाद तर्कबुद्धि को प्रयोग में लाना है। सम्भवतः धर्मशास्त्र और दर्शन के अन्तर को समझ लेने से इस अन्तर की सबसे अच्छी व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है, क्योंकि तर्क-बुद्धि का युग मुख्य रूप में, धर्मशास्त्र की विशिष्ट मध्युगीन प्रधानता के विरुद्ध विद्रोह का था। धर्मशास्त्र का यह अर्थ होता है कि हम प्रदत्त सत्य से आरम्भ करते हैं; ईश्वरपरक विचारण से एक ऐसे सत्य का अर्थ लगाने, उसकी व्याख्या करने और बोधगम्य बनाने में सहायता मिलती है, जिसे सबसे पहले स्वीकार किया जाता है। दर्शन शास्त्र का आरम्भ कम से कम परिकल्पनाओं से होना चाहिए और उसे हमें इस बात का पता लगाने में सहायता देनी चाहिए कि सत्य क्या है, इसलिए कि सत्य लक्ष्य है, आरम्भ-बिन्दु नहीं। चूंकि तर्कबुद्धि-युग धर्मशास्त्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया का युग था, इसके दार्शनिकों ने सभी पूर्वमान्यताओं का बहिष्कार किया. अतः बाह्य, व्यावहारिक, वैज्ञानिक विचारण, तर्कबुद्धि का प्रयोग करने के लिए उचित मार्ग प्रतीत हुआ। इसी रूप में तर्कबुद्धि पूर्णरूप से स्वतन्त्र समझी जा सकी, विज्ञान में जो अपरिमित प्रगति हुई है, उसका एकमात्र आधार बुद्धि, अर्थात् तर्कनापरक एवं गणितीय विचारण है, और इसकी आत्मनिर्भरता की पुष्टि इसकी विशाल तकनीकी उपलब्धियों से हो जाती है। किन्तु इससे एक स्पष्ट प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी पूर्वमान्यता के बिना आरम्भ करना सम्भव है ?

वैज्ञानिकों के लिए भी पूर्वमान्यताएँ हैं। विचार करने वाला ही विचार करता है, जानने वाला ही जानता है, और वह विचार करने और जानने में इसलिए समर्थ होता है कि वह विज्ञान में भौतिक सत्ता से आरम्भ करता है, वह इस बात को अस्वीकार नहीं करता कि इस प्रकार की सत्ता है, वह इसे स्वीकार करता है और इसका अन्वेषण करता है। फिर भी, विज्ञान में इन पूर्वमान्यताओं को आसानी से भूल सकते हैं, क्योंकि इसके विशुद्ध वस्तुनिष्ठ परिणामों में सम्पूर्ण बाह्य-जगत् समाविष्ट है तथा शिल्पविज्ञान के चमत्कार निहित हैं। फिर भी जिसे वास्तविक रूप से स्वीकार किया जाता है, उसे भूलना खतरनाक है, अस्तित्ववाद में यह खतरा, दूसरे रूप में फिर सामने आता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

क्योंकि इस प्रकार मनुष्य का क्षेत्र विलीन हो जाता है। हमें धर्मशास्त्र के विरुद्ध प्रतिक्रिया नहीं चाहिए, हमें तो एक ऐसा दर्शन चाहिए जो अपनी सही पूर्व-मान्यता से आरम्भ हो। चूंकि मानव प्राणी के रूप में हमारा अस्तित्व एक भौतिक जगत् में है, अतः हम इस जगत् और अपने को तभी समझ सकते हैं, जब प्रदत्त तथ्यों से हम आरम्भ करें।

किन्तु तर्कबुद्धि का युग, जैसाकि मैंने कहा है, ऐसी किसी चीज पर ध्यान नहीं देता जो तर्कबुद्धि के क्षेत्र को सीमित करे; मनुष्य का लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना होता है, अतः ज्ञाता पर कम से कम ध्यान देता है। इस युग का एकमात्र विरोधी पास्कल व्यर्थ में अपना उद्‌गार प्रकट करते हुए कहता है कि "तर्कबुद्धि का अन्तिम कार्य यह है कि वह इस बात को मान्यता दे कि इसके परे असीम मात्रा में वस्तुएँ हैं। किन्तु अगर प्राकृतिक वस्तुएँ इसके परे हैं, तो अतिप्राकृतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में क्या कहा जायेगा?"[1] दकार्त की अभ्युक्ति-"कोजिटो अर्गो सम" अर्थात् "मैं विचार करता हूँ अतः मैं हूँ"—हमारे अस्तित्व के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जाती है; किन्तु इस प्रमाण से केवल अमूर्त चिन्तन की प्रधानता का पता चलता है। आजकल हम देखते हैं कि पास्कल ठीक था, अस्तित्ववाद के पूर्ववर्त्तियों में एक हेमेन के स्वर के साथ स्वर मिलाते हुए, निश्चय रूप से हमें इस कथन को अधिमान देना चाहिए—एस्ट, अर्गो कोजिटो या दकार्त की अभ्युक्ति का प्रतिलोम, "मैं हूँ, अतः में विचार करता हूँ"; परन्तु इस प्रकार के कथन का यह अर्थ निकलता है मानव प्रकृति और इसकी सीमाओं को स्वीकार करना। अगर मैं अपने भाव से आरम्भ करता हूँ तो मैं देखता हूँ कि तर्कबुद्धि इसका अंग है, अगर मैं मानव प्रकृति को स्वीकार करता हूँ तो मैं इस बात की आशा नहीं कर सकता हूँ कि तर्कबुद्धि सभी समस्याओं का हल निकाल सकती है; और यही बात है जिसे वह युग नहीं मानना चाहता। एक ओर पास्कल हमें इस बात से अवगत कराता है कि उस समय किसी भी अभ्यं-तर ज्ञान की स्थिति कितना सन्दिग्ध हो गयी है, जब तर्कबुद्धि की इन सीमाओं के बावजूद अपनी आस्था का समर्थन करने के लिए, वह बाजी लगाने का प्रस्ताव रखता है। वह तुमसे इस बात के लिए बाजी लगाने के लिए कहता है कि ईश्वर नहीं है और वह इस बात के लिए भी तुमसे बाजी लगाने के लिए कहता है कि कोई ईश्वर है; उसका दावा है कि ऐसा करने से तुम्हें कुछ नहीं खोना पड़ेगा: चाहे तो तुम जीत जाते हो या अगर हार जाते हो तो तुम ईश्वर की खोज कर लेते हो, जिसकी अद्‌भुत अनुभूति से तुम्हारा जीवन समृद्ध बनेगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आस्था का समर्थन करने का एक सन्दिग्ध तरीका ! किन्तु दूसरी ओर इस बाजी का कुछ दूसरा भी अर्थ होता है, और इसके साथ ही हम अनजाने अस्तित्ववाद के मध्य में पहुँच जाते हैं; पास्कल ही प्रथम दार्शनिक है, जिसे वास्तव में अस्तित्व-वादियों का पूर्ववर्त्ती कहा जा सकता है। वह बाजी के रूप का प्रयोग यह दिखलाने के लिए करता है कि हमें इस बात के लिए वचनबद्ध हो जाना चाहिए कि हम इस प्रश्न पर केवल वस्तुनिष्ठ रूप से विचार नहीं कर सकते, क्योंकि आभ्यन्तर अनुभूति के साथ इसका अन्तः सम्बन्ध है। हम आस्था के सम्बन्ध में सार्थक रूप से तभी विचार विमर्श कर सकते हैं अगर हम सम्मिलित हों, अगर आभ्यन्तर सहयोग हो, अगर हमारी भावना सक्रिय हो।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में कीर्केगार्ड को और भी आगे जाना पड़ा, क्योंकि परम तर्कबुद्धि में विश्वास रखना, यूरोपीय विचारधारा का मुख्य तत्त्व रहा है। अपनी आस्था और एक "नैतिक आत्मा" में अपने विश्वास का समर्थन करने के लिए, "परम विरोधाभास" का प्रस्ताव रखने के सिवा और उसके सामने कोई चारा भी नहीं था। इसका अर्थ यह होता है अगर हम मूल्यों, नैतिकता और धर्म के क्षेत्र की अनुभूति प्राप्त करना और उन्हें समझना चाहते हैं तो तर्कबुद्धि का पूर्ण रूप से परित्याग करना होगा। उदाहरण के लिए, परम विरोधाभास का अर्थ यह होता है कि उसके लिए ईसाई धर्म असंगत धर्म है क्योंकि कोई भी व्यक्ति, जो केवल तर्कबुद्धि में विश्वास करता है, इस बात को समझ सकेगा कि ईश्वर मनुष्य हो गया और सबसे निर्धन मनुष्य के रूप में उसे प्राणदण्ड दिया गया; लेकिन चूँकि यह असंगत बात है, अतः उसका विश्वास है कि ईसाई धर्म सबसे अच्छा धर्म है, क्योंकि इस आस्था को ग्रहण करने में समर्थ होने के लिए, दृढ़ विश्वास और भावना की समस्त शक्तियों का हमें प्रयोग करना चाहिए। हमें इसे ग्रहण करना है, जिसे वह अज्ञात में छलाँग मारने, अगाध में कूद लगाने की संज्ञा देता है। चूँकि हम तर्कबुद्धि पर भरोसा नहीं रख सकते, अतः हम किसी को, अपने को भी विश्वास करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते, किन्तु एक काम तो हम कर सकते हैं और हमें करना भी चाहिए कि हम एक जोखिम उठाएँ अर्थात् हम तर्कनापरक विचारण के, वैज्ञानिक तर्कना के समस्त परिणामों का परित्याग करें, और उस आभ्यन्तर वाणी के प्रति हम अपने को अभ्यर्पित कर दें जो हमें यह बतलाती है कि एक भिन्न सत्ता है, भिन्न प्रकार का, अनुभवातीत तर्कबुद्धि का क्षेत्र है। अगर हम ऐसा करते हैं तो कीर्केगार्ड का विश्वास है कि हम ईश्वर की खुली बाँहों में चले जाएँगे। और उन्होंने ही "अस्तित्ववाद" शब्द का निर्माण किया।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इन सारी बातों से निस्सन्देह इस बात का पता चलता है कि बुद्धिवाद पर अत्यधिक बल देने के स्थान पर अबुद्धिवाद पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है; अर्थात प्रतिक्रिया काफी बढ़ रही है। फिर भी इस बात को शायद ही अस्वीकार किया जा सकता है कि प्रतिक्रिया होना आवश्यक हो गया था और इसमें अस्ति-वाचक तत्त्व हैं।

"अस्तित्ववाद" शब्द का क्या अर्थ होता है ? अनेक दार्शनिक इस नवीन दर्शन का अनुसरण करते हैं, जिनसे विभिन्न मतों की उत्पत्ति हुई है, जिससे इस शब्द का अर्थ भ्रामक हो गया है। कीर्केगार्ड द्वारा इस शब्द के प्रयोग के अर्थ में, इसका प्रारम्भिक एवं मौलिक अर्थ सरल और सीधा है। अस्तित्ववाद, समस्त विशुद्ध अमूर्त चिन्तन, विशुद्ध तार्किक या वैज्ञानिक दर्शन का अस्वीकरण है, संक्षेप में यह तर्कबुद्धि की निरपेक्षता का अस्वीकरण है। इसके स्थान पर यह इस बात पर बल देता है कि दर्शन का सम्बन्ध व्यक्ति के अपने जीवन और अनुभूति के साथ, उस ऐतिहासिक स्थिति के साथ होना चाहिए, जिसमें वह अपने को पाता है। और इसे अमूर्त चिन्तन में रुचि नहीं रखनी चाहिए, इसे तो जीवन पद्धति में रुचि रखनी चाहिए। यह एक ऐसा दर्शन होना चाहिए, जिसमें जीवित रहने की क्षमता हो। "अस्तित्व" शब्द में इन सारी बातों का सार है। अस्तित्ववादी दार्शनिक इस बात पर बल देते हैं कि जिसे मैं वास्तविक रूप से जानता हूँ वह अपने उसी रूप में वाह्य जगत् में नहीं है, वह मेरी अपनी अनुभूति है; उसके लिए व्यक्ति यथार्थ है। अतः दर्शन का आरम्भ किसी की अपनी अनुभूति, अपने आभ्य-न्तर ज्ञान से होना चाहिए और इसी आभ्यन्तर ज्ञान को विशेषित करना चाहिए, उसका विस्तार करना चाहिए और इस प्रकार इसे समृद्ध करना चाहिए। किसी की अपनी अनुभूति को प्रमाण के रूप में स्वीकार करना चाहिए। तर्कबुद्धि जैसाकि कुछ कम अतिवादी अस्तित्ववादी बतलाते हैं, इस अभिगम की आवश्यकता पूरी कर सकती है, किन्तु इसे कभी आदेश नहीं देना चाहिए।

जब हम सार और अस्तित्व के बीच भेद प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि अक्सर किया जाता है, तब सम्भवतः अस्तित्ववाद का अर्थ समझना आसान हो जाता है। सार वस्तुओं के यथार्थस्वरूप, मानव में मानवपन, घोड़े के घोड़ेपन की ओर सकेत करता है। इस पर अमूर्त रूप से विचार किया जा सकता है। अस्ति-त्व मानव की मानवता नहीं है, प्रत्युत् यह व्यक्ति जान है, जिसे मैं जानता हूँ, या यह विशेष घोड़ा है, जिसका मैं स्वामी हूँ, और जिसे मैं प्यार करता हूँ। अब अस्तित्ववादियों का दावा है कि समस्त पूर्ववर्ती दर्शन का अत्यधिक सम्बन्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तत्त्वों, प्रत्ययों और संप्रत्ययों के साथ था, अतः यह अत्यधिक अमूर्त बन गया। वे इसलिए अस्तित्व से आरम्भ करना और उसे बनाये रखना चाहते हैं कि यथार्थ वस्तुएँ अक्षुण्ण रहें, उसी रूप में अक्षुण्ण रहें जिस रूप में वे हमारी वैयक्तिक अनुभूति में आती हैं। इस बात में सन्देह नहीं कि अस्तित्व पर एकान्तिक रूप से बल देने में अस्तित्ववादी अक्सर बहुत आगे चले जाते हैं, अतः स्पष्ट है कि यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए, हमें सार और अस्तित्व दोनों की आवश्यकता पड़ती है। हम मानव की मानवता समझे बिना उसे नहीं समझ सकेंगे, किन्तु मानव और अपनी आन्तरिक अनुभूति पर ध्यान दिये बिना मानवता को भी नहीं समझ सकेंगे। इस प्रकार का दावा करना कि कोई व्यक्ति अस्तित्व के सम्बन्ध में विचार कर सकता है, उसी प्रकार का तर्कदोष है जिस प्रकार यह दावा करना कि सार ही सत्ता के साथ न्याय कर सकता है। किन्तु इन कुछ विचारकों की प्रतिक्रिया अगर जोरदार भी थी तो हम देख सकते हैं कि यह आवश्यक और हितकर थी।

अपेक्षाकृत व्याघाती रूप में, तर्कबुद्धि युग अभी भी हमारे साथ है। अब हम निश्चय ही इस बात में विश्वास नहीं करते कि तर्कबुद्धि सभी समस्याओं का समाधान कर सकती है, सम्भवतः हम इसकी परिभाषा भी हास्यास्पद पाते हैं। अवचेतन की खोज से आघात पहुँचा था, जिससे फिर दुबारा तर्कबुद्धि में कभी पूर्णरूप से विश्वास नहीं जमा। तिस पर भी हमारे युग पर अभी भी अमूर्त चिन्तन, निर्वैयक्तिक, वैज्ञानिक, नियतत्त्ववादी विचारण, सार पर केन्द्रीकरण, तर्कबुद्धिवाद का काफी प्रभुत्व बना ही है। हम शायद ही कभी अपनी वैयक्तिक अनुभूति और भावनाओं के गूढ़ अर्थ पर पर्याप्त ध्यान देते हैं, हम आन्तरिक ज्ञान की उपेक्षा करते हैं, किन्तु, मेरा विश्वास है, हम यह महसूस करने लगे हैं कि अमूर्त चिन्तन पर इस प्रकार का बल देने से हम अशक्त हो रहे हैं और मानव जगत भी खतरे में पड़ रहा है। सम्पूर्ण जगत अपना अर्थ खोता प्रतीत होता है और मनुष्य अपने से विमुख होता जाता है। प्रकृति पर हमारा प्रभुत्व अधिकाधिक सम्पूर्ण हो रहा है; मनुष्य सबसे सूक्ष्म कणों और सम्भवतः शीघ्र ही, बाह्य अन्तरिक्ष का प्रयोग कर सकता है; वह विश्व-संरचना का, और नवीन औषधों से, मानव स्वभाव का अतिक्रमण कर रहा है; इस समय जब कि प्रकृति के रहस्यों का एक-एक कर उद्घाटन होता जा रहा है, प्रत्येक मनुष्य अपने लिये ही एक बड़ा रहस्य बन गया है, और अपने आन्तरिक जीवन और मानवीय कार्यों में अधिक अव्यवस्था आ गयी है। क्या अभी भी हम नैतिक समस्याओं को सुलझाने में समर्थ हो सकते हैं? नैतिकता का विकास करना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पहले की अपेक्षा सम्भवतः और भी महत्त्वपूर्ण होगा, क्योंकि हमें सम्पूर्णतः एक नयी स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। नाभिक-संग्राम, मानव के अस्तित्व, जीवन-मरण के रहस्य के सम्बन्ध में इस हद तक हस्तक्षेप कर सकता है, कि पहले इसकी कल्पना करना कभी सम्भव भी नहीं था। मनुष्य के स्वरूप के सम्बन्ध में हस्तक्षेप करने से एक नया और महान उत्तरदायित्व सामने आता है। परन्तु ऐसी सभी समस्याएँ विज्ञान के क्षेत्र के बाहर हैं, जब तक हम अमूर्त चिन्तन में ही विश्वास करते रहेंगे, हम उनके यथार्थ अर्थ को नहीं समझने लगेंगे।

जब एक बार मनुष्य मूल्यों में विश्वास खो बैठता है, जब वह मनुष्य के ऊपर किसी वस्तु में विश्वास नहीं कर सकता, जब उसकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का अनुभवातीत आधार नहीं होता तो स्पष्ट रूप से सत्ता पर भी उसका विश्वास जाता रहता है। इसके अतिरिक्त चूंकि निर्वैयक्तिक उपागम उन भावनाओं को उपगम्य नहीं बना सकते, जो अगर निजी न हों तो कुछ भी नहीं हैं, अतः हमारी समस्त अनुभूतियों के एक अनिवार्य अंग को नगण्य-सा बना दिया जाता है। परन्तु जिस वस्तु की हमें पूर्ण अनुभूति होती है, उसके साथ भावनाएँ होती हैं, हम उन भावनाओं के बिना जीवित नहीं रह सकते और अगर उनका निरादर होता है तो उनकी क्षति होती है।

कोई विज्ञान हमारी यहाँ सहायता नहीं कर सकता, मनोविज्ञान भी नहीं। यह सत्य है कि इसमें सभी ऐसी समस्याएँ शामिल हैं, किन्तु उनका एक विशेष पक्ष ही—और इससे हमें आधार ढूंढने में मदद नहीं मिलती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु को सापेक्ष बना दिया जाता है। सामाजिक दबावों और वैयक्तिक अनुरागों के परिणामस्वरूप मूल्य-निर्णय देखे जाते हैं, विश्वास हीन भावना का परिणाम है। कई विशेष मामलों में यह सत्य हो सकता है, किन्तु क्या यह सम्पूर्ण सत्य है? नीट्त्शे ने, जो निश्चय ही एक महान मनोवैज्ञानिक था, एक बार कहा था कि सद्गुण हमारे दुर्गुणों के लिए निभृतस्थान हैं और उन्होंने दिखलाया कि किस प्रकार हमारे सद्गुणों का प्रयोग केवल परोक्ष अभिप्रेरकों को छिपाने के लिए किया जाता है। फिर, यह प्रायः सत्य होता है, किन्तु नीट्त्शे को "सद्गुण" और "दुर्गुण" के सम्प्रत्यय कहाँ से मिले? इस सन्दर्भ में वे पूर्वकल्पित हैं। मनोविज्ञान में विचार और भावनाओं की प्रक्रियाएँ ही शामिल हैं, हमें यह बतलाया जाता है कि हम कैसे विचार और अनुभव करते हैं, किन्तु वास्तविक विचार-तत्त्व इसकी पहुँच से परे हैं; "सद्गुण" और "दुर्गुण" के सम्प्रत्यय उस गहनतर स्तर पर पाये जाते हैं, जो मनोविज्ञान के क्षेत्र से बाहर हैं। सद्गुण का दुरुपयोग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हो सकता है, ईश्वर में आस्था रखने का आधार गलत प्रतिक्रिया हो सकता है, फिर भी यथार्थ सद्‌गुण हो सकता है और ईश्वर का अस्तित्व हो सकता है। सच और झूठ के प्रश्नों के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए हमें दूसरी कसौटी की आवश्यकता पड़ती है। मैं किसी मित्र की सहायता केवल स्वार्थवश कर सकता हूँ, क्योंकि मुझे इससे आनन्द मिलता है या यह मेरे लिए लाभदायक है; फिर भी दूसरे व्यक्ति की सहायता करना, एक अच्छा सिद्धान्त हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है।

मनोविश्लेषण असाधारण ढंग से मनोविज्ञान की एक पक्षता में वृद्धि करता है। इसका मूल आवेग इसलिये था कि उन अवचेतन कारकों के कारण उत्पन्न सभी अवरोधन दूर हो जाएँ, जिनसे यथोचित रूप से जीवन का सामना करने में रोगी असमर्थ रहता है, जिससे उसके निर्णय करने और कार्य करने की स्वतन्त्रता लौट आये। अच्छे डॉक्टर अभी भी इसका इस प्रकार प्रयोग करते हैं। किन्तु अगर आप सैद्धान्तिक मनोविश्लेषणवादी लेखों को देखें तो आप देखेंगे कि इन मौलिक अभिप्रायों के बावजूद, वे नियतत्त्ववाद का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। वे मुख्य रूप से यह बतलाते हैं कि हम ऐसे कारकों पर जैसे बचपन की अनुभूतियों पर कितने आश्रित हैं, जिनपर हमारा कोई प्रभाव नहीं था, और अवचेतन में ये कारक किस प्रकार कार्य करते हैं, स्वतन्त्र कार्यों को करने से रोकते हैं। सच तो यह है कि मनोविश्लेषण का विकास अपने ही आधारभूत सिद्धान्त की चुनौती के रूप में हुआ है और इसने संकल्प-स्वातन्त्र्य में किसी भी आस्था के विरुद्ध कुछ सबसे दृढ़ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यह वैज्ञानिक विधि का स्वाभाविक परिणाम है, कारणता स्थापित करने की दिशा में यह कार्य करेगा ही; जितना अधिक पूर्ण रूप से हम कार्य-कारण में अनिवार्य सम्बन्ध प्रकट करेंगे, उतना ही अच्छे ढंग से हम इस विधि का प्रयोग करेंगे और उतने ही अच्छे ढंग से व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करने में हम समर्थ होंगे। चूँकि इस विधि का उद्देश्य अनिवार्यता प्रकट करना है, अत इस रूप में स्वतन्त्रता सिद्ध नहीं की जा सकती, इसकी खोज करने के लिए हमें अनुभूति से आरम्भ करना होगा।

अतः हमें सच्चे रूप से अनुभूति से आरम्भ करना चाहिए। कोई भी वस्तु, इन सिद्धन्तों में दृढ़ विश्वास भी, कभी किसी मनुष्य को उसके दैनिक जीवन के छोटे-मोटे कार्यों में इस बात के लिए कायल नहीं करेगा कि वह जो करना चाहता है उसे करने में वह असमर्थ है, अगर वह छोटे, व्यावहारिक कार्यों में अवरोध अनुभव

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करता है तो वह किसी डॉक्टर या मनश्चिकित्सक के पास जाएगा क्योंकि उसे इस बात की जानकारी होगी कि उसमें कुछ खराबी है। और जो छोटे कार्यों के सम्बन्ध में सत्य है वही अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों के सम्बन्ध में नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में भी, सत्य होगा। उन सभी शक्तिशाली बाह्य और आभ्यन्तर बाध्यताओं के बावजूद, जो हमें अक्सर पराजित करती हैं, हम तब तक मनुष्य को नहीं समझेंगे जब तक हम उसकी स्वतन्त्रता को भी अपने ध्यान में न रखें। जो सिद्धान्त नियतत्त्ववाद का समर्थन करते हैं, वे वास्तविक रूप से उत्तरदायित्व की उस अनुभूति की सत्ता के लिए सबसे अनूठा प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, जो स्वतन्त्रता की पूर्वकल्पना करती है। यह अनुभूति कुछ भी नहीं तो कम से कम अवसर अप्रिय नहीं होती, और अब कई सम्मानित सिद्धान्त हैं, जिनका हम उत्तरदायित्व से बचने के लिए बहाने के रूप में प्रयोग कर सकते थे, जो यह दिखलाते हैं कि हमारा गढ़न अगणित प्रभावों से होता है, अतः हमें वही होना है, जो हम हैं और कोई चारा भी नहीं। फिर भी, व्यवहार में ये सिद्धान्त बहाने सिद्ध नहीं हो सकते; उनके बावजूद उत्तरदायित्व रहता ही है; हम फिर भी उत्तरदायित्व का अनुभव करते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य को उत्तरदायित्व का अनुभव करना चाहिए। अतः मनुष्य को समझने के लिए, हम इस अनुभूति के साथ न्याय करने के प्रयास से बच नहीं सकते।

वैयक्तिक दर्शन प्रस्तुत करने के सिवा हमारे पास और कोई चारा भी नहीं रह जाता, हमारा "ऐतिहासिक सम्वेदन" भी, जो हमारी उपलब्धियों में एक दूसरी उपलब्धि है, एक प्रकार के अस्तित्ववादी उपागम से बच निकलने में हमारी सहायता करेगा। तर्कबुद्धि युग से, इतिहास के ज्ञान का भी काफी विकास हुआ है। इस युग ने ऐतिहासिक रूप से विचार नहीं किया; प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में समकालीन प्रमाणों के आधार पर निर्णय किया गया; इतिहास ने केवल उन अवस्थाओं को दिखलाया, जिनसे यह सर्वोच्च हुआ अर्थात् जिनसे स्वयं उस युग का निर्माण हुआ। अब हम प्रत्येक वस्तु को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, उनकी ऐतिहासिक अवस्थाओं के ढाँचे में उपलब्धियों का मूल्यांकन करते हैं और इस प्रकार अधिक पूर्ण रूप से उनकी समालोचना करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक बहुत बड़ी प्रगति है, किन्तु खड़ा होने का एक सुदृढ़ आधार ढूंढ़ने के लिए क्या इससे हमें सहायता मिलती है ? जब हम केवल इतिहास पर ही भरोसा रखते हैं तो प्रत्येक वस्तु फिर सापेक्ष हो जाती है। हम प्रत्येक युग में केवल कुछ मूलभूत आस्थाओं का पता लगा सकते हैं, जो मनुष्यों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को इतनी स्वतः सिद्ध लगीं कि आगे सोचने की जरूरत ही नहीं समझी गयी और फिर दूसरे युग में उन्हें अपर्याप्त कहकर अमान्य ठहरा दिया गया। हम आधारभूत सत्य की कभी खोज नहीं करते। समस्त मूल्य और आस्थाएँ, सत् और असत्, धर्म, ईसाईधर्म, केवल ऐतिहासिक घटनाएँ हो जाती हैं, इतिहास उसी रूप में, हमें किसी वस्तु की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में नहीं बतला सकता। नैतिकता सामाजिक, राष्ट्रिक, ऐतिहासिक अवस्थाओं की उपज मात्र प्रतीत होती है, परिवर्त्तनशील लोकाचार की तरह है और जैसा कि मार्क्स ने कहा, "औचित्य और न्याय, भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता", "आधुनिक पौराणिक, देवताओं के प्रति दिखावटी प्रेम-प्रदर्शन हैं :" हम इस बड़े तमाशे में कठपुतली-मात्र रह जाते हैं, जिस तमाशे का प्रबन्ध किसी ऐसी अज्ञात, निरर्थक शक्तियों द्वारा होता है, जिनके आगे हमें झुकना ही है। हम किसी वस्तु में विश्वास नहीं कर सकते और अल्बर्ट कामू के शब्दों में "अगर हम अवस्तु में विश्वास करते हैं, अगर अवस्तु का अर्थ है और अगर हम किन्हीं मूल्यों की पुष्टि नहीं कर सकते, तब प्रत्येक वस्तु सम्भव है और अवस्तु का कोई महत्त्व है। हत्यारा न तो उचित होता है न अनुचित। अशुभ और सद्गुण केवल यदृच्छा या स्वेच्छा हैं।"[१] परन्तु यह गतिरोध तभी उत्पन्न होता है जब वैज्ञानिक या ऐतिहासिक विचारण को हम स्वीकार करते हैं और समस्त वैयक्तिक अनुभूति की उपेक्षा करते हैं। तब जैसा मौका रहता है वैसा करना पड़ता है और तब हमें कामू से यह सवाल पूछना ही होता है। "अगर अवसरवादी के सम्बन्ध में नहीं तो कम से कम अवसर के सम्बन्ध में कौन निर्णय करेगा ?"[२]

संक्षेप में, जब तक निरपेक्ष प्रमाण न हों, जो प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रामाणिक हों, जो मनुष्य की अपेक्षा उच्चतर हों और जो घटनाक्रम और उन प्रभाव से ऊपर उसे उठा सकें, जिस पर स्वयं उसका प्रभाव नहीं है, तब तक मनुष्य इस जगत् में विलीन रहता है और वह अपने अधिकार पर दृढ़ नहीं रह सकता। वह ऐसा जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, जो व्यक्तिगत कहलाये।

परन्तु यह तथ्य कि मूल, प्रमाण, नैतिकता आस्था की आवश्यकता है इस बात का प्रमाण नहीं है कि वे यथार्थ हैं, और हम उन्हें मानने के अधिकारी हैं। इस प्रकार की स्वीकृति का कोई आधार है, या वे अभिलाषानुकल्पन हैं ? यह एक ऐसा प्रश्न है जो बार-बार उठेगा। हम अपनी अनुभूति में वास्तविक तत्त्वों और उनके स्वरूप का, उनकी विश्वसनीयता, हमारी आस्थाओं के औचित्य, वैयक्तिक और अवैक्तिक उपागम के महत्त्व का परीक्षण करने का, जितना वस्तुनिष्ठ रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से हो सकता है, उतना प्रयास करेंगे, और वस्तुनिष्ठ रूप से ऐसा करने के लिए हम निरन्तर वैज्ञानिक उपलब्धियों पर भी ध्यान देंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि इनसे हमें कहाँ तक सहायता मिल सकती है।

हम अस्तित्ववादियों पर ही भरोसा नहीं रखेंगे, क्योंकि वे अक्सर बहुत आगे चले जाते हैं, वे अक्सर हमें निराश करते हैं। तर्कबुद्धि के निरपेक्ष दावे के विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हुए, वे अबुद्धिवाद का निरपेक्ष दावा करते हैं, वैज्ञानिक या तर्कनापरक विचारण के स्थान पर वे प्रत्येक अबुद्धिवादी वस्तु को भावावेश में आकर ग्रहण करते हैं और इस प्रकार निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा करते हैं। इस निरपेक्षता से भी हम शून्य की ओर अग्रसर होते हैं और यही शून्यता अर्थात् अवस्तुता, विरोधाभासी रूप से तब निःश्रेयस के रूप में घोषित की जाती है। इस पुस्तक का उद्देश्य यह है कि सन्तुलन का आधार क्रिया और प्रतिक्रिया के उस तीव्र पारस्परिक प्रभाव का मार्ग ढूंढा जाए, जिसने योरोपीय विचार-धारा को हमेशा एकपक्षता की ओर प्रेरित किया है, अर्थात् जिस रूप में तर्कबुद्धिवाद के विरूद्ध अस्तित्ववाद की प्रतिक्रिया के रूप में, मध्य युग के विरुद्ध तर्कबुद्धि युग की प्रतिक्रिया हुई है। हम इस बात को ध्यान में रखेंगे कि अन्त में हम सन्तुलन की स्थापना करना चाहते हैं, और चूंकि यह हमारा उद्देश्य है, अतः हम अस्तित्ववाद के खतरों और अतियुक्तियों की अपेक्षा अस्तित्ववाद के भावात्मक पक्षों पर ध्यान देंगे, हालाँकि इनका भी उल्लेख किया जायगा। कुछ हद तक इस प्रकार की प्रतिक्रिया निस्सन्देह आवश्यक थी और अस्तित्ववाद का यही पक्ष है जिसमें हमारी सबसे अधिक अभिरुचि है। हम भावात्मक परिणाम प्राप्त करना चाहते हैं, जिन्हें स्वीकार करना हमारा अधिकार है—यह एक ऐसा कार्य है जो अस्तित्ववाद की ओर और उससे परे हमें निर्दिष्ट करता है।

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दो

प्रगति या संकट : डार्विन और नीट्त्शे

आधुनिक रूप में प्रगति के प्रति आस्था रखना, उन्नीसवीं शताब्दी का मुख्य पंथ था—यह केवल इस प्रकार की आस्था नहीं थी कि अगर हम अपनी देनों का उचित प्रयोग करेंगे और उचित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास करेंगे तभी प्रगति होगी, प्रत्युत् एक प्रकार की दृढ़ धारणा बन गयी थी कि प्रगति स्वचल और अनिवार्य रूप से होती है। उस आस्था के अनुसार, मानवता का विकास हुआ है और उचित दिशा में, समाजिक एवं वैयक्तिक जीवन का और अच्छी तरह विकास होता रहेगा और प्रकृति में भी निम्नतर से उच्चतर रूपों में नियमित विकास होना है। प्रगति पहले ऐतिहासिक, और बाद में प्राकृतिक नियम के रूप में देखी जाती है। कभी कभी व्यतिक्रम या अवनति हो सकती है, किन्तु इनसे प्रगति कभी न तो रुकेगी न गम्भीर रूप से इसमें विलम्ब ही होगा।

सम्भवतः इस बात का स्मरण रखना लाभदायक है कि प्रगति का विचार हाल ही में उत्पन्न हुआ है और यह न तो पुराना है न स्वतःसिद्ध, जैसाकि हमें ऐसा प्रतीत हो सकता है। सम्पूर्ण समस्याएँ इसके विना रही हैं। प्राचीन समस्याओं ने पीछे मुड़कर स्वर्णयुग अर्थात खोये स्वर्ग की ओर देखा अर्थात पूर्णकालिक प्रारम्भ की ओर दृष्टिपात किया; उन्होंने भविष्य की ओर नहीं देखा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भविष्य पर इस प्रकार की एकाग्रता ईसाई धर्म के लिए उत्तरदायी थी, परन्तु वर्धमान मानवीय पूर्णता के तार्किक परिणाम के रूप में, मसीह के दूसरी बार आगमन का वचन नहीं दिया गया; प्रारम्भ में भविष्यवाणी ने इस बात पर बल दिया था कि मनुष्य पर जब सबसे भारी संकट आयेगा तब वह लौटकर आएगा —यह एक ऐसी भविष्यवाणी थी जिसमें इस बात का विश्वास दिलाया गया था कि बहुत बुरे से ही सर्वोत्तम परिणाम निकल सकता है, और इस भविष्यवाणी से मानवीय उपलब्धियाँ की अपरिमित प्रगति में विश्वास रखने की अपेक्षा, एक बार फिर सांत्वना मिल सकती है। तर्कबुद्धि के युग में प्रगति के प्रति एक प्रकार की सुस्पष्ट आस्था का विकास होना शुरू हुआ, हालाँकि इस युग में तर्कबुद्धि के सही प्रयोग के परिणाम के रूप में यह देखा गया, स्वाभाविक बात के रूप में नहीं। उन्नीसवीं शताब्दी में ही यह आशा नियम के रूप में परिणत हुई, हालांकि कुछ कठिनाई हुई।

उस शताब्दी में, प्राकृतिक विज्ञानों की आकस्मिक एवं द्रुत प्रगति से यूरोप उन्मत्त होता गया, अतः यह शायद आश्चर्य की बात हो कि प्रगति सामान्य नियम के रूप में प्रतीत होती। यह स्मरण रखने योग्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसी खोजें हुई जो हमें बहुत पहले की प्रतीत हों। उदाहरण के रूप में कुछ ऐसी खोजें उल्लेखनीय हैं; ऊर्जा संरक्षण नियम; स्पेक्ट्रम विश्लेषण, जिससे इस बात का पता चलता है कि सभी तारों में एक ही पदार्थ है; विद्युत तरंग, जिसे इस पृथ्वी पर जीवन को रुपान्तरित करना था; आवर्त नियम, जो रसायन शास्त्र को विज्ञान बनाता है; डिम्ब कोशिकाओं से मानवप्राणी की उत्पत्ति। इनके अतिरिक्त औद्योगिक क्रान्ति, रेल जगत और बाद में टेलीग्राफ, औषध विकास और इस प्रकार कोई व्यक्ति यह समझ सकता है कि उस समय के यूरोपवासियों ने क्यों इस बात में दृढ़ता से विश्वास किया कि प्रगति अनिवार्य है।

हेगेल ने पहले प्रगति नियम का प्रतिपादन किया, जिन्होंने आदर्शवादी आधार पर इसकी स्थापना की। योरोपीय विचार धारा के आगे के विकास पर हेगेल का काफी प्रभाव पड़ा, किन्तु हालाँकि उन्होंने वैज्ञानिक चिन्तन का मार्ग भी प्रशस्त किया, फिर भी उसके आदर्शवाद ने प्राकृतिक विज्ञानों को प्रत्यक्ष रूप से आकर्षित नहीं किया। उनके लिए, अभी भी एक महत्त्वपूर्ण खाई थी, जिसके कारण प्रगति में आस्था रखना कठिन हो गया—जीव-वैभव, अगणित पौधों और पशुओं का आस्तित्व और मनुष्य का अविर्भाव अव्याख्येय रहे। किसी प्रकार की व्याख्या करने के लिए, अभी भी बाइबिल, सृष्टि कथा की शरण लेना आवश्यक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रतीत हुआ। परन्तु १८५९ में डार्विन की पुस्तक "दि ओरिजन ऑफ स्पीसीज" के प्रकाशन से यह खाई भर दी गयी और इस प्रकार यह बात समझ में आयी कि इस पुस्तक को इतनी जल्दी सफलता क्यों मिली। काफी दिनों के बाद सामान्य वैज्ञानिक, यान्त्रिक रूप से प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करना सम्भव हुआ, अन्त में विज्ञान के क्षेत्र में बाइबिल अनावश्यक हो गया और अब प्रकृति में यह बात देखने को मिल सकी कि प्रगति का अस्तित्व अन्तिम रूप से सिद्ध हुआ प्रतीत होता है।

यह मेरा कार्य नहीं है कि मूल रूप में विकास सिद्धान्त, इसकी प्रामाणिकता, इसकी गौण बातों, डार्विन के समय से इसमें हुए परिवर्तन के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया जाये, इसके दार्शनिक निहितार्थों के सम्बन्ध में ही विचार विमर्श करना मेरा कार्य है। भौतिकवाद में परिवर्तन हो गया; उस समय से सभी भौतिकवादी उपदेशों को, जिनमें मार्क्स के उपदेश भी शामिल हैं, विकास सिद्धान्त पर आधारित किया जाता है। हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त को समस्त दर्शन, तत्त्वमीमांसा, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र का आधार बनाया। नीट्त्शे इससे काफी प्रभावित हुआ, हालाँकि उसने इस बात को इस रूप में स्वीकार नहीं किया; हेनरी बर्गशां ने इसे माना, हालाँकि मौलिक रूप में वह आदर्शवादी था, उन ईश्वर मीमांसकों ने भी इसे स्वीकार किया, जिन्होंने इसके दुरुपयोग के विरुद्ध संघर्ष किया। अस्तित्ववाद के प्रादुर्भाव से दर्शन पर डार्विन का यह प्रभाव कम हो गया है, किन्तु बहुत कम नहीं हुआ है।

दर्शन के लिए इस सिद्धान्त का महत्त्व मुख्य रूप से इस बात में निहित है कि यह ऐसी सुसंगत और सर्वग्राही तत्त्वमीमांसीय प्रणाली प्रस्तुत करना चाहता है जो पूर्ववर्त्ती प्रणालियों की अपेक्षा इस विश्व और मनुष्य के अस्तित्व की और भी अच्छी तरह से व्याख्या कर सके। यह सत्य है कि भौतिक द्रव्य की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं हुई है, किन्तु सभी प्रणालियों में कुछ इस प्रकार की पूर्वमान्यताओं को तो स्वीकार करना ही है; प्लेटो ने भी आध्यात्मिक तत्त्वों अर्थात प्रत्ययों से आरम्भ किया, हेगेल ने सर्वग्राही आत्मा के संप्रत्ययन से आरम्भ किया और भौतिकवादी भौतिक द्रव्य के अस्तित्व से आरम्भ करते हैं। किन्तु इस प्रथम आधारभूत मान्यता की अवहेलना आसानी से की जा सकती है, क्योंकि इस प्रकार की प्रणाली का निर्माण करने के लिए मनुष्य अपने मन की शक्ति के वशीभूत है और विकास सिद्धान्त के मामले में यह मोह संभवतः सबसे अधिक है, क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि अधिक से अधिक तथ्यों की खोज से इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रणाली को समर्थन मिला है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि यह चरम, निरपेक्ष ज्ञान समझा गया।

जब एक बार भौतिक द्रव्य के अस्तित्व को मान लिया गया, तब ऐसा प्रतीत हुआ कि विकास-सिद्धान्त, किसी और पूर्वधारणाओं के बिना, किसी सृष्टि-कर्त्ता या दैवी सत्ता के बाहरी हस्तक्षेप के बिना, प्रत्येक वस्तु की व्याख्या करने में समर्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी अनुभवातीत सत्ता की आवश्यकता नहीं है। यदृच्छा और अदृश्य शक्तियों से आंगिक रूपों में परिवर्तन होता है, साथ ही, खाद्य सामग्री की अपेक्षा मानव प्राणी अधिक हैं, अतः जीवित रहने के लिए जीवन-मरण संघर्ष शुरू होता है और वे व्यक्ति जो संयोगवश इस संघर्ष में अधिक शक्तिशाली सिद्ध होते हैं, वे जीवित रह जाते हैं। इस प्राकृतिक वरण से नई जातियाँ विकसित होती हैं।अतः करोड़ों वर्षों में यान्त्रिक शक्तियों से धीरे-धीरे समस्त जीव उत्पन्न होते हैं और अन्त में मनुष्य उत्पन्न होता है। इस विकास क्रम में उनसे उस मन की भी उत्पत्ति होती है, जिससे वह योग्य बनता है, और उसका विकास भी होता है, इस प्रकार तर्कबुद्धि की भी व्याख्या हो जाती है। यदृच्छा और अदृश्य शक्तियों पर ही सम्पूर्ण रूप से बल दिया गया है। हमने पहले इस बात का उल्लेख किया है कि जीव विज्ञानवेत्ता यह नहीं चाहते कि हम "प्रयोजन" शब्द का प्रयोग करें, उदाहरण के लिए, जूलियन हक्सले विकास के यान्त्रिक पक्ष पर बल देने के मामले में स्पष्ट मत रखते हैं। "अजैव स्वरूप की विशाल शक्तियाँ हैं जो मनुष्य से तटस्थ और उसकी शत्रु हैं। फिर भी उन्होंने विकासशील जीवन को जन्म दिया, जिसका विकास, हालांकि यह अदृश्य और संयोग है, फिर भी हमारी अपनी चेतन इच्छाओं और आदर्शों की तरह, उसी सामान्य दिशा की ओर अभिमुख हैं और इस प्रकार इससे हमारी दिशात्मक क्रियाओं के लिए हमें बाह्य अनुशास्ति प्राप्त होती है। इससे भी मानव मन का जन्म हुआ।"[1]

निस्सन्देह कमियाँ हैं। भौतिक द्रव्य के अस्तित्व की ही पूर्व कल्पना नहीं करनी है, होने वाला कुछ अव्याख्येय अनियमितता की भी पूर्वकल्पना करना है। एक सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में, भौतिक द्रव्य अत्यधिक सकेन्द्रित था, दूसरे सिद्धान्त के अनुसार यह सम्पूर्ण दिक् में सूक्ष्म ढंग से फैला है, दोनों मामलों में किसी अनियमितता को गति उत्पन्न करनी है, जिससे वह विश्व उत्पन्न हो, जिसे हम जानते हैं। इस प्रकार हमने कहा है कि अव्यवस्था से ही व्यवस्था आयेगी, जो तर्कनापरक रूप से न्यायोचित नहीं हो सकता।* दो अन्य कमियाँ भी हैं,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जिनका जूलियन हक्सले उल्लेख करना कभी नहीं भूलते : जीवन की उत्पत्ति और मानव मन का भिन्न गुण, इसके बावजूद कि इसके महत्त्व को कम करने के सभी प्रकार के प्रयास किये गये। किन्तु यह देखने के लिए हक्सले की पुस्तकों को पढ़ना आवश्यक है कि इन प्रमुख कमियों की भी कितनी आसानी से उपेक्षा की जा सकती है। हाँ, और भी कमियाँ हैं, उदाहरण के लिए यह मालूम नहीं कि वास्तविक रूप से नई जातियाँ कैसे उत्पन्न होती हैं। डार्विन ने यह माना कि धीरे धीरे सूक्ष्म परिवर्त्तन होते हैं, जिनसे नई जातियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया गया है, इसके स्थान पर, जातियों की उत्पत्ति के आधार, अब आकस्मिक परिवर्त्तन, उत्परिवर्त्तन, माने जाते हैं जिन्हें, लाभदायक सिद्ध होने पर, उत्तराधिकार में प्राप्त किया जाता है और इनसे नई जातियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु अभी भी हम यह नहीं जानते कि अनियमितता होती क्यों है ? जातियों की उत्पत्ति की, जो इस सिद्धान्त की मुख्य समस्या है, सन्तोषजनक रूप से, अभी भी व्याख्या नहीं हो सकती है और डार्विन के साथ मिलकर हम अभी भी यह कह सकते हैं कि परिवर्त्तन नियम से हम काफी अनभिज्ञ हैं।

जब तक वैज्ञानिक सिद्धान्त के साथ हमारा सम्बन्ध है, ये ऐसी कमियाँ नहीं हैं, जिन्हें दूर न किया जा सके। यह स्मरण रखने योग्य है कि जीवविज्ञान-वेत्ता विकास के एक ऐसे सिद्धान्त की चर्चा करते हैं, और हमें हमेशा यह ध्यान रखना चाहिए कि यह एक सिद्धान्त है, एक ही प्रकार के तथ्यों की खोज की गयी है, किन्तु उनमें जो सम्पर्क है वह पूर्वधारणा है, एक प्राक्कल्पना है। वैज्ञानिक प्राक्कल्पना के रूप में विकास प्रत्यय अत्यधिक उपयोगी है, यह तथ्यों की व्याख्या करने में उस हद तक सहायता प्रदान करता है कि आगे लाभदायक अनुसंधान करना सम्भव हो जाता है। किन्तु, जैसाकि सभी सिद्धान्तों के साथ यह बात लागू होती है, वैज्ञानिक को उस हालत में इसमें परिवर्त्तन लाने के लिए तैयार रहना चाहिए अगर नयी खोजें होती हैं, जो इससे मेल न खाती हों या अगर यह इन खोजों के अनुकूल न हो सके तो इसे एकदम बदल देना चाहिए। डार्विन के समय से महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन तो हुए ही हैं, जैसे उत्परिवर्त्तन और जीन के संप्रत्ययन का प्रस्तुतीकरण; कभी न कभी मौलिक प्रत्यय पर भी इस सिद्धान्त के परिवर्त्तनों का प्रभाव पड़ सकता है। दूसरे शब्दों में, अन्य

---

* पृ० ३ देखिए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सभी सिद्धान्तों की तरह विकास सिद्धान्त से भी ज्ञान की परिमितता का पता चलता है, अतः दर्शन के लिए या चरम निरपेक्ष सत्य के रूप में पूर्ण आधार के रूप में इसे स्वीकार नहीं करना चाहिए। इसे अनुसंधान का आधार बनाने के लिए वैज्ञानिक पूर्ण रूप से अधिकारी हैं, किन्तु दार्शनिकों को इसकी सीमाओं के सम्बन्ध में आलोचनात्मक ढंग से विचार करना चाहिए।

फिर भी, विकास को पूर्ण दर्शन का आधार बनाया गया है; यह दार्शनिकों को तत्त्वमीमांसीय और नैतिक और उसके व्यवहार के सम्बन्ध में उनके विचारों को प्रभावित करता है। सच तो यह है कि डार्विनवाद ने, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र के बाहर भी, योरोपीय विचारधारा के सम्पूर्ण विकास पर अत्यधिक प्रभाव डाला है। जीवित रहने के लिए जो निर्मम जीवन-मरण संघर्ष है, उसने नई नैतिकता का रूप ले लिया है, जैसे कि पूंजीवादियों के बीच निर्मम प्रतिस्पर्द्धा है, साम्यवादी जगत् में निर्मम वर्ग संघर्ष है, और कहीं निर्मम राष्ट्रवाद है। इसके अतिरिक्त मानवीय इतिहास में यह पहला मौका है जब मन और तर्कबुद्धि को अब किसी रहस्यात्मक उच्चतर शक्ति के रूप में, अतिप्राकृतिक दैविक क्षेत्र के अंग के रूप में, जो मानवीय अस्तित्व में हस्तक्षेप करता है, नहीं देखा जाता है, प्रत्युत् निम्नतर, जैविक कारकों की उपज के रूप में देखा जाता है, और भौतिकवाद को सुदृढ़ बनाने के लिए इससे अधिक कोई काम नहीं हुआ है। "आत्मा" शब्द का अर्थ लुप्त हो गया है और स्वयं मानव मन को अशक्त कर दिया गया है। क्योंकि, यद्यपि हम अन्तिम रूप से इस बात पर चर्चा कर सकते हैं कि पशु और मनुष्य में वास्तविक भेद क्या है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य ही एक ऐसा पशु है जो स्वयं अपने विचार से प्रभावित होता है, इसलिए कि तर्कबुद्धि के स्थान को कम करने से मनुष्य का स्थान नीचा हो जाता है और उसकी मर्यादा के आधार को क्षति पहुँचती है। प्रारम्भ में जो तर्कबुद्धि निरपेक्ष एवं सभी समस्याओं का समाधान करने में समर्थ समझी जाती थी, अन्त में अपने को निम्नीकृत करके सभी समस्याओं को दूर करती प्रतीत होती है।

मानव जीवन और अनुभूति के सम्बन्ध में इस दर्शन के अर्थ को समझने के लिए नीट्त्शे के दर्शन की ओर मुड़ना सबसे अच्छा होगा। यह अचम्भे की बात लग सकती है कि मैं नीट्त्शे और डार्विन में प्रत्यक्ष रूप से सम्पर्क स्थापित करूँ, किन्तु मुझे आशा है कि डार्विन के प्रति नीट्त्शे का आभार प्रकट करने से, प्रगति में उन्नीसवीं शताब्दी की आस्था को अधिक पूर्ण रूप से समझने में आसानी होगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह सत्य है कि फ्रांसीसी भाषा का महान प्रशंसक नीट्त्शे अंग्रेज़ी भाषा की उपेक्षा करता है और यह उपेक्षा डार्विन की कटु आलोचना करते समय सामने आती है। उसे डार्विन मध्यम दर्जे का बुद्धिमान विनम्र अंग्रेज प्रतीत होता है, जिसका "अबोधगम्य एकपक्षीय सिद्धान्त," "अंग्रेजों की अत्यधिक आबादी के दम घुटने वाले वातावरण में, गरीबों के तंग जीवन में" विलीन हो जाता है।[1] फिर भी कुछ विचलनों और आलोचनाओं के बावजूद नीट्त्शे के दर्शन पर डार्विन का काफी प्रभाव पड़ा है, विशेष रूप से उस भाग पर जो अतिमानव के आदर्श की सृष्टि करता है। अतः नीट्त्शे किस प्रकार अपने आदर्श पर पहुँचता है, इस बात की खोज करना सबसे अधिक सहायक होगा, क्योंकि वह विकास-सिद्धान्त को पूर्ण दर्शन में परिणत करने की आवश्यकता को औरों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से देखता है। इस बात में निश्चय ही कोई सन्देह नहीं—उन लोगों के लिए भी नहीं, जो उसके दर्शन को अस्वीकार करते हैं—कि नीट्त्शे सबसे चतुर और दूरदर्शी विचारकों में एक था; और चूंकि वह कई प्रकार से अस्तित्ववादियों का पूर्ववर्त्ती था; यह दिखलाने में वह कभी असफल नहीं रहता है कि अमूर्त पदों का अर्थ उस वस्तु से है जो मानवीय अनुभूति में अनूदित होती है।

अगर मनुष्य सम्पूर्ण रूप से जैविक विकास की उपज के रूप में समझा जाए, तो वह जो भी कार्य करता है उसकी व्याख्या उसके शारीरिक गठन के परिणाम के रूप में करनी होगी, नैतिक प्रमाणों और मूल्यों को सापेक्ष दिखलाना होगा, क्योंकि वे इन अवस्थाओं पर आश्रित हैं। मनुष्य को यह स्वीकार करना होता है, जैसाकि नीट्त्शे कहता है कि "शारीरिक मूल्यों की तुलना में, नैतिक मूल्य भ्रामक हैं।"[2] इस विचारधारा का अनुसरण करने के योग्य होने के लिए, नीट्त्शे मनोविज्ञान को सभी समस्याओं के अपने उपागम का आधार बताता है क्योंकि किसी व्यक्ति को यह दिखलाने के लिए कि हम उन अभिप्रेरकों से कितना प्रभावित होते हैं, जिनसे हम अनभिज्ञ हैं यह सबसे अच्छा साधन है। वह एक अच्छा मनोवैज्ञानिक है, हालाँकि वह मुख्य रूप से मनुष्य के आचरण और व्यवहार के आत्म-सम्मोहक पक्ष पर एकाग्र करता है। वह मानव मन के उन क्षेत्रों को भी अनावृत करने से चूकता जो "अतिमानवोचित" हैं। मनुष्य के सबसे उदात्त प्रयासों का विगोपन किया जाता है, जो उसकी पाशविक मूल प्रवृत्तियों को छिपाने वाले नक़ाब हैं। जहाँ कहीं भी मनुष्यों ने पहले उत्साह और प्रशंसनीय भावना की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रचुरता की अनुभूति प्राप्त की, वहाँ "दूषित भावनाएँ" और "घोर विलासिता" प्रकट हो गयी हैं और सद्गुण, स्थूल अहंमन्यता, उदासीनता, बेईमानी, और अधिकार के लोभ के संगम स्थल के रूप में स्वीकार किये गये हैं। वस्तुओं का भोग उनके लिए नहीं किया जाता है, प्रत्युत "वस्तुओं के माध्यम से कोई भोग करता है"।[1] हम असंगत तथा अन्यायी प्राणी हैं, जिनकी "कृतज्ञता प्रतिशोध का सौम्य रूप है,"[2] और जिनकी करुणा, जो लगभग बिना अपवाद के ईर्ष्या से सम्बद्ध है, एक ऐसा मार्ग है, जिसके द्वारा निर्बल को बल अर्थात् "चोट पहुंचाने का बल"[3] मिल सकता है। "लगभग वे सभी अभिप्रेरक जिनका खुले आम हम प्रदर्शन करते हैं, हमारे कार्यों के वास्तविक प्रेरणा स्रोतों के छिपाने के काम में आते हैं; हम कभी-कभार भूल करेंगे जब अतिवादी कार्यों के मिथ्याभिमान को, मध्यम दर्जे के कार्यों के लिए आदत को और छोटे कार्यों के लिए भय को उत्तरदायी ठहराएँगे।"[4] आस्था का अर्थ कुछ नहीं होता है, क्योंकि यह "तर्कबुद्धिशून्य मार्गदर्शक सिद्धान्त का अभिग्रहण मात्र है"[5] और "मनुष्य ऐसी प्रत्येक वस्तु की सचाई में विश्वास करता है, जिसमें प्रत्यक्षतः दृढ़ता से विश्वास किया जाता है"।[6] किसी मत की विश्वजनीनता भी किसी प्रकार से निर्णायक नहीं है : "किसी सिद्धान्त को सफल बनाने में सहायता प्रदान करने का अर्थ अक्सर बुद्धिहीनता के साथ उसे मिलाने से है, अर्थात् बुद्धिहीनता के प्रभाव से वह सिद्धान्त सफल होता है"।[7]

इस सुस्पष्ट मनोवृत्ति से नीट्त्शे एक तर्कदोष स्वीकार करता हुआ प्रतीत होता है—यह एक ऐसा तर्कदोष है जिसके समक्ष उसे झुकना पड़ा, जिससे वह विकासवाद को दर्शन का रूप दे सके, और उसकी त्रुटि साफ झलक जाती है, क्योंकि यह तर्कदोष अभी भी अनेक सन्दर्भों में हमारे साथ है। हमने पहले सद्गुण और दुर्गुण के सम्बन्ध में उसके वर्णन की चर्चा की है, ये संप्रत्यय स्पष्ट रूप से मनोविज्ञान के क्षेत्र के बाहर से लिए गए हैं,* जो विचार प्रक्रियाओं से सम्बन्धित हैं, मौलिक संप्रत्ययों से नहीं। नीट्त्शे जो कुछ भी कहता है, अक्सर सत्य ही होता है, किन्तु यह सम्पूर्ण सत्य नहीं है, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के क्षेत्र से परे विचार का एक गहनतर स्तर है। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि दुर्गुणों की गणना-अहंमन्यता, उदासीनता, बेईमानी, अधिकार लोलुपता-प्रत्येक व्यक्ति के दुर्गुण-विचार के लगभग अनुरूप ही है; निर्णयों से परिणाम निकाले जाते हैं और निर्णय प्रमाणों और दृढ़ विश्वासों पर आधारित हैं। मनोविज्ञान

---

* पृ० १३ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की सहायता से कोई यह दिखला सकता है कि प्रमाण किस प्रकार कार्य करते हैं, उनका किस प्रकार उपयोग और दुरुपयोग किया जाता है, किन्तु उनका मूल कहीं और निहित है। आधुनिक उदाहरण प्रस्तुत करने में, जो अनिवार्य की व्याख्या कर सके और इस प्रकार के दर्शन में "अनिवार्य रूप से" को छोड़ दिया गया है, विभेदीकरण और बढ़ जाता है : मनोविश्लेषणवादियों का दावा है कि ईश्वर में आस्था का आधार प्रायः पितृ—मनोग्रन्थि माना जाता है, अर्थात् मनुष्य जब बढ़ता है तब वह अपने पिता के संरक्षण से तथा बचपन में उनके प्रति जिस भय की अनुभूति की थी, उनसे वंचित रह जाता है, अतः उनके स्थान पर वह स्वर्ग में एक पिता की कल्पना करता है। अनेक लोगों के साथ यह बात सच हो सकती है किन्तु इससे ईश्वर का अस्तित्व या अनस्तित्व सिद्ध नहीं होता। लोग कई प्रकार से ईश्वर में आस्था रखने के विचार तक पहुँचते हैं, और उनमें से कुछ गलत भी हो सकते हैं; किन्तु ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न का निर्णय विभिन्न आधारों पर किया जाना चाहिए। ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण के रूप में एक विशेष मनोवैज्ञानिक घटना का प्रयोग करना बिल्कुल गलत है।

किन्तु इसी प्रकार से नीट्त्शे उस वस्तु को प्राप्त करता है जो जैविक सिद्धान्त को दर्शन का आधार बनाने के लिए अर्थात् नैतिकता में अविश्वास करने के लिए अपेक्षित है। स्पष्ट रूप से, अगर हमें जीवित रहने के लिए जीवन-मरण संघर्ष प्रारम्भ करना है तो नैतिकता का कोइ महत्त्व नहीं है, और अगर प्रगति अर्थात् स्वचालित और अपरिहार्य प्रगति है तो नैतिकता को निरर्थक भी होना चाहिए। अगर प्रत्येक वस्तु, जो घटित होती है, वस्तुओं को बेहतर बनाने के लिए बाध्य है, तो नगण्य नैतिक संकोचों के लिए इस आश्चर्यजनक प्रक्रिया में अवरोध डालना निरी मूर्खता होगी, और यहाँ तक कि यह अनैतिक कार्य भी होगा। अतः नैतिकता को अलग करना है, और अपनी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि पर इस अस्वीकरण को आधारित करते हुए, नीट्त्शे वही करता है। अगर समस्त सद्गुण दिखाये हैं, तो नैतिकता वह नहीं है जिसे निरपेक्ष नैतिक नियम के परिमाण होने का, वास्तविक सद्गुणों का चेतन मूर्त रूप से होने का दावा करते हैं, प्रत्युत यह एक बहाना है, और उन अभिप्रेरकों को छिपाने के विशेष उद्देश्य की पूर्ति में सहायक है, जिन्हें परोक्ष अभिप्रेरक के रूप में स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि उनका प्रच्छन्न उद्देश्य निर्बलों से बलवानों की हार है।

नीट्त्शे नैतिकता और ईसाई धर्म पर जो आक्षेप करता है उसके मूल में यही सतत योजना रही है; दोनों को दोषपूर्ण माना गया है क्योंकि इनसे बल-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वान व्यक्ति का स्वामी होना, जैसाकि उसे होना चाहिए, असम्भव हो जाता है। हम कुछ ही क्षणों में बलवान व्यक्ति के आदर्श के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे, किन्तु प्रारम्भ से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवित रहने के लिए यह आदर्श जीवन मरण संघर्ष की अवस्थाओं के कितना अनुरूप है. जिसके आवश्यक परिणाम ही स्पष्ट किये गये हैं। अगर प्राकृतिक व्यवस्था को-जो अनिवार्य रूप से आदर्श व्यवस्था होगी—अक्षुण्ण छोड़ दिया जाय तो वे सभी जो निर्बल हैं, बलवानों के अधीन हो जाएँगे, अतः नीट्त्शे के अनुसार निर्बल व्यक्तियों ने अपनी रक्षा करने के लिए सामान्य या ईसाई धर्म सम्बधी नैतिकता स्वीकार की। इस नैतिकता का पालन उस बलवान व्यक्ति की अपेक्षा निर्बल व्यक्ति अधिक आसानी से करता है, जिसमें मूलप्रवृत्तियाँ और अन्तःप्रेरणाएँ हैं और अगर इसे उच्चतम प्रमाण बना दिया जाय तो निर्बल व्यक्ति वरिष्ठ प्राणी प्रतीत होता है। अतः हमारी समस्त नैतिकता दास नैतिकता, जनसाधारण नैतिकता दीखती है, जो स्वस्थ व्यक्ति को ध्वस्त करने के लिए है, जिससे उसे अधीन किया जा सके। "यूरोपीय नैतिकता का छद्मवेश धारण करता है, क्योंकि वह अस्वस्थ, विवर्ण और अपंग हो गया हैं, जिसे निस्तेज होने के पर्याप्त कारण हैं, क्योंकि वह निष्फल सा, अपूर्ण, निर्बल और भद्दी वस्तु है।"[1] धर्म एक प्रकार का मनस्ताप है, जो इस बीमारी को उत्पन्न करता है और उसका प्रयोग करता है। विशेष रूप से, ईसाई धर्म के साथ, "नैतिका में दास-विद्रोह" आरम्भ होता है, जिसने सफाई दी है और उन सब पर विजय प्राप्त की है जो "अनुपयुक्त, कृपापात्र, निम्नवर्ग के, मानवजाति से निकाले हुए लोग हैं।" ईसाई धर्म के अर्थ में उन्नति वास्तविक उन्नति के विपरीत है, क्योंकि इसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य "निस्तेज, निर्बल, हताश, शिथिल, अशक्त और नपुंसक है।" ईसाई धर्म ने मनुष्य को सम्पूर्ण रूप से "परास्त कर दिया और तोड़ दिया और उसे कीचड़ में डुबो दिया"।[2] सिर्फ "शुभ और अशुभ से परे" वास्तविक जीवन आरम्भ होता है।

नैतिकता और ईसाई धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की अधिकांश आलोचना ध्यान देने योग्य है, उदाहरण के लिए, इस प्रकार की भर्त्सना करना कि जबकि बौद्ध के व्यवहार और कार्य गैर-बौद्ध से भिन्न होते हैं, ईसाई प्रत्येक व्यक्ति की तरह ही व्यवहार और कार्य करता है और ईसाई धर्म उन अनुष्ठानों और चित्तवृत्तियों का धर्म है, जिन्हें वह अपने दैनिक जीवन से अलग रखता है। (दूसरे अध्याय में नीट्त्शे दर्शन के भावात्मक पक्षों की चर्चा की जायेगी) किन्तु वह और आगे बढ़ता है और उसका दूसरा कदम एक बार फिर दार्शनिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

डार्विनवाद की अपेक्षाओं के अनुरूप उठता है, ईश्वर को भी अस्वीकार करता है। वह बार-बार इस बात पर बल देता है कि "ईश्वर निर्जीव है" और आलंकारिक रूप से वह पूछता है कि "क्या विचारक को अभी भी ईश्वर की प्राक्कल्पना करने की आवश्यकता है।"[१] वह बिना किसी शर्त के सभी धर्मों की आलोचना करता है—"कभी भी किसी धर्म में, प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से, सिद्धान्त रूप में या प्रतीक रूप में, सच्चाई नहीं रही है।"[२] इस प्रकार अप्रत्याशित घटनाओं और अन्धशक्तियों के विधान और शक्तिशाली व्यक्ति की मुक्त प्रशंसा के लिए मार्ग खुला है।

कमजोरों पर तरस खाना मूर्खता है। दासता हमेशा "प्रत्येक उच्चतर संस्कृति की अवस्था थी"[३] और अगर महान आत्माएँ होनी हैं तो अहंमन्यता आवश्यक है। जो व्यक्ति संस्कृति का विकास करता है, वह ईसाइयों और नीतिवादियों की कल्पना से भिन्न प्रतीत होता है। "वह अपने साधन के रूप में झूठ, हिंसा, अत्यधिक निष्ठुर अहंमन्यता का प्रयोग इस खूबी से करता है कि उसे दुष्ट और पिशाच ही कहा जा सकता है।"[४] "अधिक पूर्ण मनुष्य" हमेशा "अधिक पूर्ण पशु"[५] थे। सहिष्णुता और शान्ति अशक्तता के द्योतक हैं, युद्ध को एक प्रकार से वास्तविकता के रूप में ही स्वीकार करना है, क्योंकि "युद्ध समस्त शुभ का जनक है"[६] —"यह यूनानी भाषा का थोड़ा ही गलत अनुवाद है, जिसका महत्त्व इसी बात को दिखलाने में है कि युद्ध अपरिहार्य है।"[७] "अगर कोई युद्ध का परित्याग करता है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह महान जीवन का परित्याग करता है।"[८] हमें मनुष्य में एक नये प्रकार के अन्तःकरण को जन्म देना चाहिए, जिससे हम अपने पारम्परिक सद्गुणों को अशुभ अन्तःकरण के साथ और बल और शक्ति को शुभ अन्तःकरण के साथ मिला सकें। मनुष्य को "एक शिकारी पशु, शिकार और सिद्धि की खोज में लुब्ध होकर घूमने वाला भव्य स्वर्णाभिकेश पशु बनने का प्रयास करना चाहिए···उसे पशु के रूप में फिर से प्रकट होना चाहिए और जंगल लौट जाना चाहिए—महान जातियों ने ही, जहाँ कहीं भी वे गये अपने पद चिन्हों में "जंगलीपन का संप्रत्यय छोड़ा है।"[९] मूल रूप में जीवन शक्ति जो उन्नीसवीं शताब्दी के लिए इतना वांछनीय प्रतीत हुई, बिना शर्त विजयी हुई है।

जैविक प्रमाणों को स्वीकार करने के लिए, विशुद्ध जीवन शक्ति को सबसे अधिक महत्त्व देना आवश्यक है, परन्तु इसका सम्बन्ध शायद ही अहेरी पशु और जंगलीपन की प्रशंसा करने से है। फिर भी अतिवादी कथन एक बार फिर इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विचार के तात्विक पक्षों पर प्रकाश डालता है। परन्तु अन्तिम आदर्श का वर्णन शुरू करने के पूर्व, तर्कसंगत— या कुछ तर्कविरुद्ध समर्थन दिखलाने के लिए, जो इस प्रकार के सिद्धान्त में आवश्यक है, कुछ बातों का उल्लेख कर देना चाहिए।

नीट्‌त्शे के प्रारम्भिक दर्शन का उद्देश्य इस दावे को सिद्ध करता है कि "कोई भी वस्तु सत्य नहीं" है, अतः "प्रत्येक वस्तु अनुमत" है। कोई भी वस्तु इसलिए सत्य नहीं है कि अगर सब कुछ जातियों की आवश्यकताओं पर आश्रित है तो कोई भी चीज नियत, निरपेक्ष सत्य नहीं है, यह केवल परिवर्त्तनशील शारीरिक आवश्यकताएँ हैं। परन्तु इस प्रकार का कथन व्याघाती है, और सापेक्षता को सर्वग्राही बनाने का प्रयास करते समय जिससे हम बच नहीं सकते। नीट्‌त्शे सत्य की परिभाषा देते हुए कहता है कि "यह एक प्रकार की त्रुटि है, जिसके बिना प्राणियों की एक खास प्रकार की जातियों का अस्तित्व नहीं हो सकता"[1]। किन्तु इस दावे को सार्थक होने के लिए यह आवश्यक है कि यह यथार्थ और निरपेक्ष रूप से सत्य हो। यह सभी सापेक्ष सत्यों का तर्कदोष है, जबकि वे मौलिक समझे जाते हैं, अन्त में उनका आधार अभी भी ऐसा होना चाहिए, जो सत्य समझा जा सके, अन्यथा सार्थक रूप से उन पर विचार भी नहीं हो सकता। "जीवन कोई युक्ति नहीं है, त्रुटि जीवन की शर्तों में एक हो सकता है,"[2] किन्तु यह जीवन जिसके विरुद्ध वह हमें सचेत करता है, उसके लिए अमोघ मापदण्ड है। वह अनेक निरपेक्ष सत्यों में विश्वास करता है, उदाहरण के लिए, वह आनुवंशिता में विश्वास करता है, और वह निश्चय ही अपने मनोविज्ञान को अमोद्य मानता है। किन्तु जब वह अपने इस दावे को सिद्ध करता है कि "प्रत्येक वस्तु अनुमत है" तब वह उसी प्रकार की भूल करता है। वह "नियम शब्द से भागना चाहता है", जिसका अर्थ उसे रुढ़िगत नैतिकता प्रतीत होता है : "कोई नियम नहीं है, प्रत्येक शक्ति प्रत्येक क्षेत्र में, अपनी प्रकृति के अनुरूप कार्य करती है।" किन्तु फिर अगर यह किसी नियम का प्रतिपादन है, तो वह स्वयं कहता है : "यह तथ्य कि कोई भी अन्य वस्तु सम्भव नहीं है परिकलन का आधार है"।[3] सच तो यह है कि वह एक नया नियम और एक नई नैतिकता की स्थापना करने के लिए सभी मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करना चाहता है, क्योंकि किसी व्यवहारसंहिता के बिना कार्य करना असम्भव है। अगर हम निरपेक्ष सत्य को अस्वीकार करें, और नैतिकता स्वीकार कर लें, केवल इसलिये कि हम सतर्क और यथार्थवादी होना चाहते हैं और असंगत दावों से बचना चाहते हैं तो हम कार्यसाधकता और अवसरवादिता में विश्वास लाने में योग देते हैं, जिसके विरुद्ध कामू ने हमें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सचेत किया* "यह एक ऐसा विश्वास है, जो शक्तिशाली मनुष्य को महान बनाने" के नीट्त्शे के सभी प्रयासों के बावजूद "स्वर्णाभिकेश पशु" को स्वीकार करने के निहित अर्थ से थोड़ा ही भिन्न है।

इन प्रयत्नों का एक दूसरा पक्ष भी है। नीट्त्शे सभी परिपाटियों और पूर्वग्रहों से पलायन करना चाहता है, जिससे वह बिना किसी पूर्वधारणा के, प्रत्यक्ष रूप से जीवन का सामना कर सके—यह एक प्रशंसनीय तथा साहसपूर्ण प्रयास है, क्योंकि हम अगले अध्याय में देखेंगे कि यह कई प्रकार से लाभदायक है। किन्तु वह बिना किसी पूर्वधारणा के आरम्भ करने में असमर्थ रहता है। जब वह जीवन शक्ति की प्रशंसा करता है, तब वह स्पष्ट रूप से अवनति के भय से प्रभावित है, जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप को आक्रान्त किया—भय यह था कि यूरोपीय व्यक्ति के स्वास्थ्य और जैविक शक्ति को उसके बौद्धिक विकास से इस हद तक क्षति पहुँची कि उसका जीवित रहना ही खतरे से खाली नहीं रह गया। यह भय सभी जगहों पर देखा जा सकता है : फ्रान्स में "फिन दि सिस्ल" की उपासना प्रारूपिक थी, और यह भावना इंग्लैण्ड में भी फैली जहाँ अवनति का भय, उदाहरण के लिए, डी० एच० लॉरेंस की कृति में देखा जा सकता है। अनेक लेखकों ने रूस को इस बात के लिए सचेत किया कि वह पाश्चात्य जीवन प्रणाली न अपनाये क्योंकि पश्चिम का सर्वनाश होता प्रतीत हुआ। जर्मनी में, शापेनहावर और नीट्त्शे के प्रभाव में, नवयुवक टॉमस मान, स्टीफेन जॉर्ज और अन्य लोगों ने उसी भय की अभिव्यक्ति दी। "स्वर्णाभिकेश पशु" का अर्थ प्रतिकारक रूप में लिया गया है। सम्भवतः हमारे लिए इस भय का पुनः अनुभव करना कठिन है, जिसने उस समय के अनेक महान व्यक्तियों के मन को आक्रान्त किया, क्योंकि अवनति होना आरम्भ नहीं हुआ ; यूरोपीय व्यक्ति दो विश्वयुद्धों के बावजूद अच्छे स्वास्थ्य में जीवत रहा है, हालाँकि फिर से वह जंगली हो गया है—किन्तु यह एक दूसरा ही मामला है। फिर भी उस समय यह भय इतना अधिक था कि नीट्त्शे ने भी एक सैद्धान्तिक कथन द्वारा इसका विरोध किया : "यह जगत् शक्ति की इच्छा है—और कुछ नहीं।"[१] यह एक सिद्धान्त है जिसका प्रभाव उस समय लगभग समाप्त हो जाता है जब एक बार भय दूर हो जाता है।†

---

* पृ० १६ देखिए।

† इस कथन की निस्सन्देह तत्त्वमीमांसीय अर्थापत्तियाँ, है किन्तु यहाँ मेरा इन बातों से सम्बन्ध नहीं हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

परन्तु शक्ति की इच्छा पर बल देना अपने आप में महत्त्वपूर्ण भी है। अवनति के भय ने, निश्चय ही, मानव समाज में जीवित रहने के संघर्ष को और तेज कर दिया। नीट्त्शे ने शक्ति की इच्छा के प्रभाव के रूप में एक दूसरा आवेग काम करते हुए दिखाया—मनुष्य को ईश्वर बनाने का प्रयास। ईसाई धर्म ने देव पुरुष की ओर इतना ध्यान केन्द्रित किया कि अब "देव मृत है"। उसके स्थान पर पुरुष को देवता बनाना है। यह अन्तःप्रेरण, सम्भवतः दोस्तोविस्की के एक पत्र द्वारा सबसे अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होता है जो नीट्त्शे द्वारा इन विचारों का विकास करने के पूर्व ही नीट्त्शे की तरह बोलता है। "दि पोजेस्ड" में किरिल्लाव इस बात से आश्वस्त है कि "ईश्वर नहीं है।" और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "अगर ईश्वर का अस्तित्व है तो यह सब उसकी इच्छा है और उसकी इच्छा से हम बच नहीं सकते। अगर ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो यह सब मेरी इच्छा है और मैं आत्मा दिखलाने के लिए वाध्य हूँ......अगर कोई ईश्वर नहीं है तो मैं ईश्वर हूँ।"[१] या जैसाकि नीट्त्शे कहता है—"अगर ईश्वर होता तो मैं ईश्वर न होने से कैसे वंचित रह सकता? अतः ईश्वर नहीं है।"[२] क्या इस बात पर आश्चर्य प्रकट करना अयुक्तिसंगत है कि आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान और शिल्पविज्ञान की विशाल प्रेरक शक्ति के पीछे उसी अभिप्रेरक का अनुभव किया जा सकता है और हमारे युग में क्या इसके होने के पर्याप्त कारण नहीं हैं? देवत्वविहीन पुरुष को अगर एकबार दिव्य मान लिया जाय तो वह शक्ति प्राप्त करने के लिए अवश्य प्रयत्नशील होगा।

यह स्वव्याघाती प्रतीत हो सकता है, क्योंकि वैज्ञानिक विचारण का उद्देश्य, जैसाकि हमने कहा है नियतत्त्ववाद होना चाहिए, और अपरिहार्य ऐतिहासिक एवं प्राकृतिक नियम विकासवाद के आधार हैं। किन्तु यह व्याघात सिर्फ इसी बात की पुष्टि करता है कि नियतत्त्ववाद को पूर्ण रूप से स्वीकार करना मनुष्य की शक्ति से असम्भव है।* नियतत्त्ववाद का अर्थ यह होता है कि इच्छा स्वातन्त्र्य का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि सभी घटनाएँ, जिनमें मनुष्य की ऐसी क्रियाएँ भी शामिल हैं जो स्वतन्त्र क्रियाएँ प्रतीत होती है, वाह्य आवश्यकता से निर्धारित होती हैं। परन्तु नियतत्त्ववाद पर आधारित सभी उपदेश मनुष्य से अपील करते हैं कि वह इस उपदेश के अनुरूप कार्य करें—अर्थात् वे उसके इच्छा स्वातन्त्र्य से अपील करते हैं। जुलियन हक्सले अन्धशक्तियों एवं यदृच्छाओं के पक्ष में प्रयोजन को अस्वीकार करता है, फिर भी वह हमसे इस बात की अपेक्षा करता है कि

---

* पृष्ठ १५ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हम सुजनन-विज्ञानों को काम में लायें ।* कार्ल मार्क्स जिसके लिए साम्यवाद उद्देश्य या आदर्श नहीं हैं, प्रत्युत् आवश्यकता से उत्पन्न "घटनाओं का वास्तविक प्रवाह" है, अपने अनुयायियों से यह चाहता है कि वह क्रान्ति करें। इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि नीत्से की मनुष्य को ईश्वर बनाने की इच्छा महत्त्वपूर्ण प्रयास है, जो हालाँकि अपने रूप और वस्तु में पूर्णतः भिन्न है, उन्हीं आधारों पर आधारित है।

उसका ईश्वर अतिमानव है, महान बर्बर है, जिसमें पशु की शक्ति और सौन्दर्य का सामंजस्य है और उसमें महान बौद्धिक शक्तियाँ हैं, जो स्वयं, जनसाधारण जगत् पर और भाग्य के ऊपर भी विजय प्राप्त करने में उसे समर्थ बनायेंगी। वह इस पृथ्वी का स्वामी होना है, जो "इतिहास को अर्थ प्रदान करते हुए पृथ्वी के लक्ष्य को पूरा कर सके'। नृत्यवत् प्रशांतता और गहनतम गम्भीरता को असंवेदनशील निष्ठुरता और दुःख की महान शक्ति का समवर्गी होना है। शक्ति की इच्छा के अन्तिम अवतार के रूप में, उसे हत्या करने की अनुमति है और उसे अपराध के निकट रहना चाहिए ।

यह विचार कुछ हद तक, विकासवाद से उत्पन्न है, जो अपने वैज्ञानिक रूप में, एक और अव्याख्येय कमी रखता है, जिसका उल्लेख हमने अभी नहीं किया है। प्राकृतिक नियम के रूप में, विकास को सतत प्रक्रिया होना चाहिए, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह मनुष्य में अपने अन्तिम शिखर पर पहुंच जाता हैं और उसके बाद कार्य करना बन्द कर देता है। अतिमानव स्पष्ट रूप से नीट्त्शे द्वारा इस त्रुटि का निराकरण करने का प्रयास है। चेतन रूप से अचेतन रूप से इस बात की खोज करने के लिए अगले कदम का पूर्वानुमान कर लेता है कि मनुष्य का और कैसे विकास हो सकता है। परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि अतिमानव के दिव्य दर्शन से अति प्राचीन आदर्श पुनः स्थापित हो जाता है।

चूंकि अतिमानव बहुत दूर की वस्तु है, अतः यह बात समझ में आ सकती है कि उसका वर्णन अस्पष्ट रह जाता है, परिभाषा से उसे समस्त वास्तविक ज्ञान से परे होना चाहिए । किन्तु एक विशिष्टता है जिसकी नीट्त्शे इतनी प्रशंसा करता है कि हम यह अनुभव करते हैं कि अतिमानव का स्वरूप नेपोलियन की तरह है। उपलब्धियों के सम्बन्ध में नीट्त्शे कहता है कि वे लगभग उच्चतर आनन्द के इतिहास हैं ···· जिसे सबसे महान व्यक्तियों ने अपने सबसे महान क्षणों में इसी शताब्दी में उपलब्ध किया है ···· वह पुरातन स्वरूप के

* पृष्ठ ३५ पर दूसरा उद्धरण देखिये ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पूर्ण भाग को फिर से सतह पर लाया है, और जो, सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है "और इस प्रकार उसने एक युग का सूत्रपात किया है।" हम इस सम्बन्ध में नेपोलियन के ऋणी हैं······अर्थात् युद्ध की अनेक शताब्दियाँ जो इतिहास में वेमिसाल रही हैं, अब एक दूसरे का अनुगमन कर सकती हैं; संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि "हमने युद्ध के क्लास्किी युग में प्रवेश किया है··· जिसे आने वाली शताब्दियाँ ईर्ष्या से और पूर्णता की अभिव्यक्ति के रूप में विस्मित होकर देखेंगी।"[1]

अतिमानव सर्वाधिक रूप से समस्त महान योद्धा, निष्ठुर विजेता का प्रतिनिधित्व करता है। यह सत्य है कि पिछले उद्धरण में, हम "अन्य" नीट्त्शे, अर्थात् पैंगम्बर के रूप में उसे देखना शुरू करते हैं जो हमें भावी खतरों से सचेत करता है, जबकि अधिकांश आस्तिकों का यह विचार था कि युद्ध भूतकाल की वस्तु है और बीसवीं शताब्दी स्वर्णयुग देखेगी, वह कुछ लोगों में एक था, जिसने युद्ध युग का अनुमान लगा लिया और दुर्भाग्यवश वह ठीक था। किन्तु पहले वह इन युद्धों का स्वागत करता है क्योंकि वह चाहता है कि अतिमानव एक महान योद्धा हो और संसार उसकी निरपेक्ष शक्ति को स्वीकार करे। नेपोलियन को प्रचलित उपासना से पहले ही इस बात का पता चल गया था कि योद्धा की प्रशंसा चरम शिखर पर पहुँच गयी थी क्योंकि यूरोप में ईसाई मत का महत्त्व समाप्त हो गया था। यह लौटने में समर्थ था क्योंकि इसी बात पर ईसाई धर्म यूरोपीय का धर्म परिवर्त्तन करने में असफल रहा, मध्य युग में भी, वीर बनने की लालसा प्रबल रही, जबकि शौर्य के विचित्र आदर्श ने ईसाई धर्म को (जो इस बात की अपेक्षा करता है कि किसी को हत्या नहीं करनी चाहिए और अपने दुश्मन से प्रेम का व्यवहार करना चाहिए) युद्ध के आदर्शीकरण के साथ मिला दिया। नीट्त्शे ही ऐसा पहला व्यक्ति है, जिसने इस विचार को चेतन एवं सम्मोहक आधुनिक अभिव्यक्ति प्रदान की; उसके साथ ही यह मानव जन साधारण के स्वामी और विश्वविजेता के रूप में वीर पुरुष-हाल के इतिहास में सबसे शक्तिशाली अभिकर्त्ताओं में एक हो जाता है।

यही मुख्य कारण है जिससे नीट्त्शे पर नाज़ी का पूर्ववर्त्ती होने का आरोप लगाया जाता है और वे उसे अपने दार्शनिक के रूप में अभिनन्दन करते हैं। यह निस्सन्देह एक पक्षीय अर्थ है; नीट्त्शे का दूसरा पक्ष भी है, जिस पर हम अगले अध्याय में पूर्ण रूप से विचार करेंगे; किन्तु काफी हद तक यह आरोप सही है। जो अतिमानव का समर्थन करते हैं, वे यह बतलाते हैं कि वह प्रशान्त

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नर्तक, जीवन प्रेमी, प्रफुल्ल एवं प्रसन्नचित्त रूप में भी दिखलाया गया है, फिर भी उसकी प्रफुल्लता हमेशा कृत्रिम है, और अगर हम यथार्थ व्यक्तियों पर इन निहित विचारों को लागू करते हैं तो इसका सम्भावित परिणाम आदर्शकृत जर-तुश्त की अपेक्षा जिसमें अनुपम गुण हैं, हवा से बात करने वाला वीर अश्वा-रोही निकलता है। यद्यपि नीट्त्शे ने उन्हीं विचारों को पूर्ण अभिव्यक्ति दी, जो उसके समय में पहले से ही काम कर रहे थे, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उनके विनाशकारी विकास में उसके उपदेश ने मौलिक रूप से योग दिया।

डार्विन के प्रभाव के कारण-आनुवंशिकता में नीट्त्शे की आस्था से जो एक कारक प्रस्तुत किया गया उसके परिणामस्वरूप अतिमानव का आदर्श विशेष रूप से हानिकर हो जाता है। अधिकांश वैज्ञानिकों के लिए उसका मत अधिक सैद्धान्तिक ही सिद्ध होता है, किन्तु एक बार फिर अतिवादी कथन, विकासवाद पर दर्शन को आधारित करने के परिणामों से राहत प्रदान करता है। नीट्त्शे का विश्वास है कि अन्य प्रभाव आनुवंशिता के विरुद्ध अव्यक्त हैं। "अगर आपको माँ-बाप के बारे में थोड़ी जानकारी है तो आप उनके बच्चे के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाल सकते हैं और सबसे अच्छी शिक्षा से इस प्रकार को आनुवंशिता के सम्बन्ध में दूसरे लोगों को धोखा देने में ही सफल हो सकते हैं।"[1]... फिर भी अगर शिक्षा निराशाजनक है, तो उच्चतर जाति अर्थात् अतिमानव तक पहुँचने का एक ही तरीका है और वह है जन्म देना। यही परिणाम जिसकी अपेक्षा नीट्त्शे करता है और इसका जो अर्थ है, उसे स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करता है। वह सबसे निम्न भारतीय जाति चण्डाल के धार्मिक नियमों, परगमन, कौटुम्बिक व्यभिचार और अपराध के फल, की प्रशंसा करता है, क्योंकि इनसे ये लोग धीरे-धीरे "घातक महामारियों और सबसे भयंकर रतिरोगों" से समाप्त हो जाते हैं। निम्नतर जाति का विनाश प्रजनन-संप्रत्यय का आवश्यक परिणाम हैं। वह हमेशा इस बात की माँग करता है कि नयी जाति उत्पन्न हो और सभी असन्तुष्ट, विद्वेषी और ईर्ष्यालु व्यक्तियों की उत्पत्ति पर रोक लगे, अपराधियों का बन्ध्यकरण हो और करोड़ों अयोग्य प्राणियों का विनाश हो।[2] इन कथनों के पीछे नाजी गैस चैम्बरों की काली छाया दीखती है।

निस्सन्देह यह अनुचित सरलीकरण होगा कि इस प्रणाली के विकास के लिए एक ही दार्शनिक को जिम्मेदार ठहराया जाए, जो सबसे अनुचित और बुरी प्रणालियों में एक है और जो कभी देखी नहीं गयी। फिर भी, समान रूप से, इस बात में भी सन्देह नहीं कि महान् दार्शनिक ने इस प्रकार की जो माँगें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की, उन्हें कार्य रूप दिया। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि केवल नीट्त्शे के दर्शन से नहीं, विकासवाद से भी इस प्रकार के परिणाम निकले। अतिमानव को जन्म देने के सम्बन्ध में नीट्त्शे के सिद्धान्त को, अधिक सामान्य विचार के विरुद्ध चेतावनी के रूप में कार्य करना चाहिए, जिसे उदाहरण के लिए उस समय देखा जा सकता है जब हम जूलियन हक्सले की ओर मुड़ते हैं।

हक्सले निष्कपट है और मानवोचित होना चाहता है। वह अतिमानव के खतरों को समझता है: "मैं निश्चय ही यह देखना नहीं चाहता हूँ कि मनुष्य को देवता के स्थान पर ले आया जाए, जैसा कि पहले अनेक प्राणियों के साथ हुआ, और अभी भी ऐसा हो रहा है।" किन्तु उसका विश्वास है कि "अब यह प्रमाणित-सा प्रतीत होता है कि जो अधिक बुद्धिमान हैं प्रजनन करने की गति कम बुद्धिमान लोगों की अपेक्षा औसतन कम है। अगर यह प्रक्रिया कायम रही तो इसके भयंकर परिणाम निकलेंगे। समाज को अधिक बुद्धिमान लोगों की आवश्यकता है।" उसका यह भी विश्वास है कि "कृत्रिम चयन अधिक प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है और प्राकृतिक चयन की अपेक्षा इससे अधिक शीघ्रता से परिणाम निकल सकते हैं"—वह घोड़ों से इस सिद्धान्त को सिद्ध करता है। अतः वह इस निष्कर्ष पर आता है कि कुछ सन्ततियों के बाद इस प्रकार का परिणाम निकल सकता है। इस बात में सन्देह नहीं कि यह तब तक नहीं हो सकता है जब तक रीति-रिवाजों, नियमों और दृष्टिकोण में कुछ आमूल परिवर्तन न हो।......एक बार अगर हम इस तथ्य को समझ लें कि हम लोग भावी विकास के अभिकर्त्ता हैं और जीवन की निहित संभाव्यताओं का विकास करने के अतिरिक्त और कोई कार्य उच्चतर या महान् नहीं है तो उसकी प्राप्ति के मार्ग में जो किसी प्रकार का अवरोध होगा उसे दूर करने के तरीके और साधन किसी प्रकार से मिल जायेंगे......विस्तृत सुजनिक विज्ञान......प्रेरक और आशा हो सकते हैं।[1] क्या कुछ और किसी प्रकार—से का अर्थ नीट्त्शे की प्रजनन विधियों से तो नहीं है?

हक्सले इससे बचने का प्रयास करता है। "सामान्य सुधार के लिए सुजनन विज्ञान का यह अर्थ नहीं है कि किसी ऐसे राज्य या सत्ता में विश्वास-किया जाए जिसे अच्छे और बुरे अनुवेक्षिक गुणों के सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए निरंकुश अधिकार प्राप्त हों। किन्तु साथ ही पारम्परिक नैतिकता पर ध्यान नहीं दिया जाता। कोई भी वस्तु जो उन्मुक्त विकास की अनुमति देती है या सहयोग देती है वह ठीक है, और जिस वस्तु से विकास में अवरोध उत्पन्न होता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है, वह ठीक नहीं है। यह विकासात्मक दिशा की नैतिकता है।"[1] तब प्रजनन की वास्तविक माँगों पर नियन्त्रण किस प्रकार रखा जा सकता है ? सच तो यह है कि अगर आमूल परिवर्त्तन लाना ही है तो समाज के कुछ सदस्यों के लिए असाधारण शक्ति का विनिधान करना होगा और मनुष्य को जन्म देने का काम उन शक्तियों को अमानुषिक ही बनायेगा। नीट्त्शे की माँगों को जो तार्किक रूप से तो सही हैं किन्तु मानवीय रूप से घृणित हैं चेतावनी के रूप में लेना चाहिए।

बाद में नीट्त्शे अपने उपदेश को भयानक चेतावनी के रूप में लेता है, और इसके सम्बन्ध में वही विचार रखता है जो हमारा है। किन्तु उसकी कृति के भावात्मक पक्ष पर विचार करने के पूर्व, मैं इसके अभावात्मक पक्ष पर अत्यधिक बल देना चाहता हूँ क्योंकि उसका दर्शन वास्तविक रूप से कितना भयानक है। वह स्वयं इस बात को जानता है कि इस दर्शन का अर्थ क्या है और अपने विचार के सही अर्थ की जानकारी से ही वह सही निष्कर्ष पर पहुँचता है, अर्थात् उस विचार को विकसित करता है जो बाद के निकट है। फिर भी कुछ लोगों ने विशेष रूप से फ्रांसीसी अस्तित्ववादियों ने जो उसकी खुलकर प्रशंसा की है, वह मुझे हानिकर लगती है क्योंकि यह हमें उस तथ्य की अचेतन स्वीकृति की ओर ले जा सकती है और सच तो यह कि यहं ले भी गयी है—जो उसकी कृति में घातक है। यह और भी महत्त्वपूर्ण है कि हम किसी को भी नीट्त्शे कें सम्मोहन से बचा सकें।

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तीन

नीट्त्शे और अस्तित्ववाद

जब हम नीट्त्शे को पूर्णरूप से समझने की कोशिश करते हैं, तो हमारे सामने एक बड़ी कठिनाई आती है। हमें न केवल उन प्रासंगिक व्याघातों में सामंजस्य स्थापित करना होता है, जो किसी दार्शनिक कृति में हो सकते हैं, प्रत्युत् कई मौलिक समस्याओं का समाधान भी करना होता है। उदाहरण के लिए, जब उसके समय का, नाज़ी का एक प्रकार का पूर्ववर्त्ती, पैन-जर्मन संघ उसे अपना अध्यक्ष बनाना चाहता था, तब उन्हें इस बात की आशा थी कि वह खुश होगा। उसने "स्वर्णाभिकेश पशु" के प्रशंसकों को "ट्यूयन की तिरस्कार-पूर्ण परिभाषा : आज्ञाकारिता और लम्बे पैर"[1]—से निराश कर दिया—जिन्होंने "स्वर्णाभिकेश" का शाब्दिक अर्थ ही लगाया। अधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरण उस समय देखा जा सकता है जब उस समय के सामी विरोधी आन्दोलन के नेता के साथ उसकी बहन की शादी के समय उसकी प्रतिक्रिया हुई थी; उसे अपने भाई से यह आशा थी कि वह प्रसन्न होगा, निश्चय ही उसकी पुस्तकों में कई ऐसी बातें थी, जिनसे उसकी आशा की पुष्टि होती थी। किन्तु उसने उसे सचेत किया कि "उसके पति के सोचने का तरीका उसका नहीं है," और बाद में उसने उसे लिखा : "यह मेरे लिए गर्व की बात है कि सामीवाद का विरोध करने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् इसे अस्वीकार करने के सम्बन्ध में मेरे स्पष्ट विचार हैं और उसने इस बात की शिकायत की कि हाल में उसे काफी गलत समझा गया है क्योंकि वह एक विख्यात सामी विरोधी का सम्बन्धी बन चुका था।[१] बाद में नाज़ियों ने उसे अपना दार्शनिक बनाना चाहा, जबकि आज के अस्तित्ववादियों का दावा है कि उनका अर्थ गलत था और वह सचमुच में काफी भिन्न है, इसके अतिरिक्त दोनों पक्ष अनेक ऐसे उद्धरणों से अपने दावे का समर्थन कर सकते हैं, जिन्हें झूठा साबित करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु मेरा विचार है कि हम इन व्याघातों को समझ सकते हैं, अगर हम उसके उपदेश और निजी विकास में अन्तर स्पष्ट कर सकें।

हमने उसके उपदेश के सम्बन्ध में, पिछले अध्याय में विचार किया और अब हम उसके दर्शन के उस पक्ष पर विचार करेंगे जो उसके निजी विकास का प्रतिरूप प्रस्तुत करता है। इसका अर्थ यह है कि हम उसके दर्शन के महत्त्वपूर्ण पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। परन्तु इसमें जो गलती है उसके भयानक परिणामों पर भी ध्यान देंगे, अन्यथा जैसाकि मैंने पहले इस बात पर बल दिया है, उसका उपदेश अभी भी खतरनाक सिद्ध हो सकता है। अपने निजी विकास से नीट्त्शे को अपने उपदेश के खतरों और इस प्रकार इसके परे की जानकारी हो गयी, जो वस्तुतः आज अस्तित्ववाद कहलाता है।

उसके विकास के भावात्मक पक्ष पर विचार करने के लिए, सबसे अच्छा आरम्भ बिन्दु उसका वह कथन है जिसे वह प्रायः कहा करता था कि "ईश्वर मृत है, हमने ईश्वर की हत्या कर दी है; ईश्वर की मृत्यु हो गयी है।" यह स्पष्ट रूप से किसी निष्कपट नास्तिक का कथन नहीं है। नास्तिक सिर्फ इतना ही कहेगा कि "ईश्वर नहीं है और उसमें आस्था रखना निरर्थक अन्धविश्वास है और इसका कोई आधार नहीं है, किन्तु ईश्वर मृत है" खोये मत की ओर संकेत करता है। नीट्त्शे जानता है कि यूरोप के लोगों पर विशेष रूप से अधिकांश बुद्धिजीवियों पर ईसाई धर्म का प्रभाव समाप्त हो चुका है और उन्नीसवीं शताब्दी की यह सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है, इतिहास में उल्लिखित सभी घटनाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण। क्योंकि-चूंकि यूरोपीय सभ्यता को ईसाई धर्म के ईश्वर-सम्प्रत्यय पर आधारित किया गया है, अतः इस मत के लुप्त होने से यह आवश्यक है कि इस सभ्यता में एक दरार पड़े, ईश्वर के स्थान पर कुछ भी नहीं है, (das Nichts Le Neant) नीट्त्शे यह भी जानता है यह स्थिति क्यों भयंकर और खतरनाक है, रिक्तता का भाव स्थायी नहीं है, यह लगातार

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बढ़ता है और विनाशकारी होता है, और दृढ़ विश्वासों को समाप्त करता जाता है। अधिक से अधिक संप्रत्यय, मूल्य, आस्थाएँ, सम्प्रदाय जो अब तक हमारे जीवन के आधार रहे हैं–टूट जाते हैं और उनकी अवहेलना करनी होती है। अन्त में हमारे अस्तित्व के क्रोड़ में अवस्तुता मिलती है। इस प्रकार की रिक्तता का भाव अभी भी बढ़ रहा है और इस प्रकार का खतरा है कि हमारे लिए अभी जो भी वास्तविक मूल्य की वस्तु बची है, वह समाप्त हो जाए।

इस प्रक्रिया के महत्त्व की जानकारी सम्भवतः नीट्त्शे की महानतम् योग्यता है इससे उसकी कृति को पैगम्बरी स्थान मिलता है। पहले ही, अपनी प्रारम्भिक कृतियों में एक में वह लाक्षणिक रूप से समस्या बताता है। वह लिखता है, "क्या आपने पागल आदमी के बारे में नहीं सुना है जो स्वर्ण प्रभात में लालटेन जलाता है और बाजार की ओर लगातार यह चिल्लाता हुआ भागता है कि 'मैं ईश्वर की खोज कर रहा हूँ...,जब यह बात हुई तो वहाँ कई लोग खड़े थे जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, अतः वह हँसी का साधन बन गया।" (ये वास्तविक नास्तिक हैं, जिन्हें इस प्रकार की भाषा हास्यास्पद प्रतीत होनी चाहिए) वह पागल आदमी उछलकर बीच में चला आया.. उसने कहा, "ईश्वर कहाँ है, अच्छा, मैं तुम्हें बताऊँगा। हमने उसकी हत्या कर दी है–आपने और मैंने। हम सब उसके हत्यारे हैं। किन्तु हमने इस कार्य को कैसे किया ? हमने महासागर का जल पीकर इसे सूखा कैसे बनाया ? सम्पूर्ण क्षितिज को पोंछ डालने के लिए हमें स्पंज किसने दिया ? जब हमने सूर्य से इस पृथ्वी को अलग किया तब हम कहाँ थे ? अब यह किस ओर जा रही है ? हम किस ओर जा रहे हैं ? सूर्य से दूर ? क्या हम लगातार गिर नहीं रहे हैं ? पीछे, बगल में, आगे, सभी दिशाओं में ? क्या अभी भी हम 'ऊपर' और 'नीचे' की बात कर सकते हैं ? क्या हम चक्कर नहीं काट रहे, खोए हुए, अवस्तुता की अनन्तता में ? क्या रात नहीं आ रही, गहरी, और गहरी ? ईश्वर मृत है। ईश्वर मृत रहता है। और हमने उसकी हत्या की है। हमारे लिए वहाँ क्या आराम है ?...इस कार्य की महानता क्या हमारे लिए अत्यधिक भारस्वरूप नहीं है ?" और नीट्त्शे यह भी जानता है कि इस घटना पर अभी भी ध्यान नहीं दिया गया है, पागल आदमी कहता है—"मैं बहुत पहले ही चला आया...यह असीम घटना अभी भी अपने मार्ग में है...यह सभी मनुष्यों के कानों तक नहीं पहुँची है।"[1] बाद में, जब "दस स्पेक जरथुस्ट्रा में निश्चयात्मक शब्दों में अतिमानव की प्रशंसा की जाती है तब नीट्त्शे भी लिखता है कि उसे भयंकर परिणाम होने की आशंका है क्योंकि ऐसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कोई भी चीज नहीं है, जिसका कोई महत्त्व हो, कोई भी ऐसी चीज नहीं जो यह आदेश दे सके "तुम्हें करना होगा" । संक्षेप में, वह वर्त्तमान स्थिति का अनुमान कर लेता है ।

साथ ही, नीट्त्शे एक सच्चा दार्शनिक है, अतः वह जानता है कि उसके समय के यूरोपियनों का व्यवहार मौलिक रूप से कपटपूर्ण है । क्योंकि इस समय नेपोलियन की हर जगह पूजा हो रही थी जर्मनी में, इटली में और रूस में, फ्रांस में भी उसी तरह पूजा हो रही थी, जहाँ नेपोलियन को गद्दी पर बैठाने के लिए पूजा की जा रही थी । युद्ध को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लिया गया । डार्विन के 'जीवित रहने के लिए निर्मम जीवन-मरण संघर्ष" का, जैसाकि हमने देखा है, यूरोपीय नैतिकता पर गहरा प्रभाव पड़ा है, जो निर्मम प्रतियोगिता, निर्मम वर्ग संघर्ष और निर्मम राष्ट्रीयवाद को न्यायसंगत बनाता है । इस प्रकार जबकि अपने दैनिक जीवन में मनुष्य ईसाई धर्म की नैतिकता को अधिमान्यता देते हैं और रविवार को गिरिजाघर जाते हैं । तो क्या नीट्त्शे ने एक ऐसी नैतिकता और दर्शन का विकास करने का प्रयास किया जो उसके समय के यूरोपीय लोगों के वास्तविक जीवन के अनुकूल हो ? क्या इसीलिए उसने जीवन शक्ति, निष्ठुर स्वर्णाभिकश पशु, अतिमानव के आदर्श की प्रशंसा की ? वह दार्शनिक रूप से बलवानों के श्रेष्ठ अधिकारों की स्थापना करने का प्रयास करता है, जिन्हें समाज ने पहले ही से स्वीकार कर लिया है, और वह अपने स्वर्णाभिकेश पशु को जैविक अवनति के प्रतिकारक के रूप में विकसित करता है क्योंकि उसके समय में जो भय था उसकी वजह से यह उपचार आवश्यक समझा गया । वह एक प्रक्रिया के तार्किक परिणामों का सामना करता है जो पहले से ही शुरू हो गयी थी और उसे इस बात की घोषणा करनी पड़ीः हमारे कैटीड्रल ईश्वर की समाधियाँ नहीं तो और क्या हैं ?[1]

प्रारम्भ में, नीट्त्शे को निश्चय ही इस बात पर विश्वास था कि अतिमानव के उपदेश से कमी पूरी हो सकेगी, वह मनुष्य को एक ऐसा मत प्रदान कर रहा था जो प्राचीन धर्म को बदल सके । किन्तु धीरे-धीरे वह महसूस करता है कि उसका उपदेश उपचार नहीं है, अवनति और विनाश में योग देने वाला ही तत्त्व है; वह इसे नास्तिवाद के एक अंग के रूप में ग्रहण करता है, जिसे वह निर्माण के समय देखता है (हम कुछ ही क्षणों में उसकी नास्तिवाद की परिभाषा पर विचार करेंगे) फिर भी अपने ज्ञान के बावजूद, अपने उपदेश को अन्तिम निष्कर्षों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तक विकसित करने के लिए वह अपने को संगत दार्शनिक के रूप में प्रस्तुत करने की उत्कट इच्छा इसलिए रखता है कि वह यह दिखला सके कि यह कहाँ जाता है, किन्तु, अन्त में, इसे सिद्धान्त के रूप में नहीं ग्रहण करना है, चेतावनी के रूप में ही इसे स्वीकार करता है। अगर इन दृढ़ धारणाओं को अपना कार्य करने के लिए योंही छोड़ दिया गया, जिनका जीवन पर आधिपत्य है, तो भविष्य में निर्ममता, युद्ध परिणाम सहित नियन्त्रित प्रजनन, विनाश और अवनति अनिवार्य है। यह एक चेतावनी थी। कोई यह कह सकता है कि नीट्त्शे ने इस चेतावनी को स्पष्ट करने के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया क्योंकि उसका उपदेश उसकी प्रकृति के विपरीत सिद्ध हुआ और ऐसा प्रतीत होता है कि इससे उसका पागलपन प्रकट हुआ। किन्तु "उत्सर्ग" शब्द का प्रयोग कुछ शर्तों के साथ होना चाहिए, क्योंकि इसका अर्थ चेतन कार्य से है, और हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि नीट्त्शे जो कर रहा था, उससे वह कहाँ तक अवगत था। क्योंकि यहाँ हमारे सामने एक दूसरी कठिनाई आती है। नीट्त्शे ने अपने उपदेश से चरम निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए पूरी शक्ति से कोशिश की, फिर भी जब उसने अपना कार्य पूरा कर लिया तो उसका मानसिक सन्तुलन इसलिए विगड़ना अनिवार्य था कि अपने विचार को पूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उसके पास समय कम था। हमें संकेत एवं निर्देशन मात्र मिल पाता है।

फिर भी, इन संकेतों में कुछ तो स्पष्ट हैं। सच तो यह है कि जब कोई नीट्त्शे को अच्छे ढंग से समझना चाहता है तो एक विचित्र विपर्यय उत्पन्न होता है। पहले उसका उपदेश ही मुख्य है और यह दावा कि उसके दर्शन का एक दूसरा पक्ष भी है, अप्रत्यायक प्रतीत होता है। फिर भी धीरे-धीरे जब कोई उसके दूसरे पक्ष को देखना सीखता है और ऐसे अवतरणों की खोज करता है जो, उसकी प्रारम्भिक कृतियों में भी उसकी मुख्य विचारधारा के व्याघाती हैं—जैसे पागल आदमी की कहानी, जिसे अभी उद्धृत किया गया है—व्याघाती कथन और भी महत्त्वपूर्ण रहते हैं जब तक "अन्य" नीट्त्शे यथार्थ रूप में प्रकट नहीं होता। हमें उस नीतिवादी के सम्बन्ध में पता चलता है, जिसने स्वयं का उल्लंघन किया, जिससे वह अनैतिक विचार अपनाने में समर्थ हो। वह अतिसम्वेदनशील व्यक्ति सिद्ध हुआ जिसने अपने को निर्ममता की प्रशंसा करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार अन्त में इस बात की भी सम्भावना दीखती है कि वह अपने उपदेश को चेतावनी का रूप देना चाहता है और वह इस अनैतिक जीवन-प्रणाली की खोज

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसलिए करता है कि वह हमारे लिए विचारों को आकषक बनाने की अपेक्षा इसके परिणामों को दिखलाना चाहता है।

नीट्शे की अपूर्ण कृति "दि विल टू पावर" मुख्य स्रोत है, जिससे उसके मन परिवर्त्तन का पता चलता है। इसका प्रकाशन और सम्पादन उसकी वहन ने किया था। आधुनिक अनुसंधान और सामग्री को फिर से क्रमवद्ध करने का काम होते हुए भी, हम यह नहीं जानते कि स्वयं नीट्शे संक्षिप्त नोटों के इस संग्रह, अपूर्ण टिप्पणियों और संशोधित एवं विस्तृत सूत्रों को क्या करता। उनमें से कुछ तो प्रारम्भिक युग के हैं, और कुछ उसके मानसिक सन्तुलन समाप्त होने से कुछ समय पूर्व के हैं। ईसाई धर्म पर आक्षेप करते समय वह प्रारम्भिक नीट्शे है या जब वह यह कहता है कि "मानवजाति नहीं, अतिमानव उद्देश्य है।"[१] वह नास्तिवाद के सभी खतरों से परिचित है, फिर भी वह यह दिखलाने का भी प्रयास करता है कि यह सशक्त जीवन के लिए अनिवार्य है। किन्तु ऐसे कथन हैं जो विल्कुल स्पष्ट हैं।

अब नीट्शे अपना विकास स्पष्ट रूप से देखता है। कोई अपने जीवन में काफी देर से ही यह बात स्वीकार करने का साहस करता है कि वास्तविक रूप से वह सत्य को जानता है। मैंने अभी हाल में यह बात स्वीकार की है कि "मैं हमेशा नास्तिवादी रहा हूँ, मैंने जिस शक्ति और निर्ममता से नास्तिवाद का अनुसरण किया, उससे मैं इस मौलिक तथ्य पर ध्यान न दे सका।"[२] यह कथन बिल्कुल स्पष्ट है और इसकी और अधिक व्याख्या करने का आवश्यकता नहीं। साथ ही "नास्तिवाद" शब्द को पूर्ण परिभाषा दे दी जाती है। "नास्तिवाद" क्या है ? यह तथ्य कि उच्चतम मूल्य सभी महत्त्व खो देते हैं, कोई उद्देश्य नहीं है, 'क्यों" प्रश्न का कोई उत्तर नहीं। मूलभूत नास्तिवाद, यह दृढ़ विश्वास है कि जिन उच्चतम मूल्यों को कोई स्वीकार करना चाहता है वे वास्तविक रूप से अतर्कसंगत हैं और इसके साथ ही यह इस बात की पूर्ण जानकारी हैं कि किसी दूसरे जगत् या वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप या किसी दैविक सत्ता या प्रदत्त नैतिकता को स्वीकार करने का कोई औचित्य नहीं है।[३] "और नास्तिवाद की विशेषता बतलाते हुए वह यह भी कहता है कि मनुष्य अपनी नजरों में अपनी सारी मर्यादा खो चुका है।"[४] यह इस बीमारी की अचूक दवा है, जिसे सम्भवतः हम नीट्शे के समय की अपेक्षा आज अधिक अच्छी तरह जानते हैं। स्वयं नीट्शे के लिए मनुष्य की समकालीन स्थिति इस प्रकार इतना स्पष्ट बना दी गयी कि वह ईसाई धर्म की नैतिकता का सही मूल्यांकन भी प्रस्तुत कर सकता है। वह पूछता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है : ईसाई धर्म की नैतिक प्राक्कल्पना से क्या लाभ थे ? और वह इसका उत्तर देता है।

१. इसने मनुष्य को, विकास और विनाश के प्रवाह में उसकी लघुता और आकस्मिकता की विषमता में निरपेक्ष मूल्य प्रदान किया।

२. दुःख और अशुभ के बावजूद, यह ईश्वर के समर्थकों के लिए सहायक सिद्ध हुआ, इसने विश्व को पूर्णता प्रदान की-संकल्प स्वातन्त्र्य प्रदान किया-अशुभ सार्थक प्रतीत हुआ।

३. इसने मनुष्य को निरपेक्ष मूल्यों का ज्ञान कराया और इस प्रकार जहां अत्यधिक आवश्यक था, उसे पर्याप्त ज्ञान दिया।

४. इसने मनुष्य को आत्म-विरक्ति, जीवन-अस्वीकरण, ज्ञान-नैराश्य से मनुष्य को बचाया; यह एक प्रकार का संरक्षण बल था।[1]

स्वाभाविक रूप से नीट्त्शे ने ईसाई नैतिकता के संसार में सुख का अनुभव नहीं किया। उसके उत्तर अभी भी, कम से कम, उनके कुछ भाग थोड़ा व्यंग्यात्मक हैं और वह नास्तिवाद को ईसाई धर्म का परिणाम मानता है। "अब समय आ गया है जबकि हम इस तथ्य का शोधन करें कि हम लगभग दो हजार वर्ष तक ईसाई रहें।"[2] फिर भी वह इस बात का उल्लेख करता है कि ईसाई धर्म का मुख्य दोष यह है कि सत्यवादिता को आदत बना दिया गया। किन्तु उसकी नजरों में भी क्या सचमुच में दोष है ? यही सत्यवादिता है, जिससे वह अपने उपदेश में नास्तिवाद का दर्शन करता है।

नीट्त्शे की दुःखद स्थिति उसकी प्रसिद्ध पुस्तक "दस स्पेक जरथुस्ट्रा" में भी देखी जा सकती है। यहाँ प्रशंसा का पुल बाँधते हुए, वह अतिमानव के आदर्श को अन्तिम रूप प्रदान करता है; एक बार जब यह काम हो जाता है, तब एक नये विचार की खोज की घोषणा उसी उत्साह से की जाती है। उसके बाद यह नया विचार "शाश्वत आवर्त्तन" का विचार बन जाता है। यह एक प्रकार का विश्वास है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु को, जिसका कभी अस्तित्व रहा है या जो कभी घटी है, बार-बार बिना किसी परिवर्त्तन के लौट जाना चाहिए। कोई विकास नहीं है. कोई प्रगति नहीं है, भूलों को ठीक करने की सम्भावना नहीं है, कोई भी ऐसी चीज नहीं है, जिससे उन्नति में विश्वास जग सके; प्रत्येक वस्तु को बार-बार ठीक उसी रूप में लौटना है। स्पष्ट रूप से, यह एक दूसरा मौलिक व्याघात है। या तो विकास है और तभी हम भविष्य में अति-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मानव के दर्शन की आशा कर सकते हैं या शाश्वतः आवर्त्तन है, जो किसी प्रकार का परिवर्त्तन स्वीकार नहीं करता, इस स्थिति में अतिमानव की कल्पना करना शाश्वत रूप से असम्भव है। इस पुस्तक में भावप्रवण शैली में व्याघात पर परदा डाल दिया गया है, किन्तु नीट्त्शे को यह वात पूर्ण रूप से स्पष्ट होगी। न तो हम इसके अर्थ को पता लगाने में असफल हो सकते हैं। जैसाकि हमने कहा है वह अपने विचारों को चरम निष्कर्ष तक पहुँचाने की पूरी शक्ति से कोशिश करता है, किन्तु एक बार जब यह काम हो जाता है तब उसका नैराश्य समाप्त हो जाता है। सच तो यह है कि कोई भी इस विचार से सहमत नहीं हो सकता कि प्रत्येक वस्तु उसी रूप में लौटने के लिए बाध्य है, किसी भी भूल का निराकरण नहीं हो सकता, कोई भी अनुभव से कुछ सीख नहीं सकता। किन्तु नीट्त्शे इसी बात को "दि विल टू पावर" में स्वीकार करता है। विस्मया-दिबोधक शब्द "व्यर्थ" हमारे वर्त्तमान नास्तिवाद का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे दिखलाना है इस "व्यर्थ" को, बिना किसी लक्ष्य और प्रयोजन के, अवधि के साथ मिला दिया जाये तो यह अत्यधिक अशक्त विचार है इसके अत्यधिक भयानक रूप पर विचार करें : मूल रूप में, बिना किसी अर्थ या प्रयोजन के, अस्तित्व का अवस्तुता में अनिवार्य रूप पर विचार से लौट जाना—"शाश्वत आवर्त्तन"। यह नास्तिवाद का सबसे अतिवादी रूप है : शाश्वत अवस्तुता (अर्थ-हीनता)।[1]

दूसरे सन्दर्भ में इस शाश्वत आवर्त्तन के सम्बन्ध में लिखता है कि उसके मन में अत्यधिक भयानक विचार उठा, और तब उस समय उसे अतिमानव का निर्माण इसलिये करना पड़ा कि कोई ऐसी सत्ता हो जो इस विचार को सहन कर सके। प्रगति में आस्था रखकर हमने जो आरम्भ किया था उसका परमोत्कर्ष नैराश्य में हुआ।

अपने उपदेश के सही स्वरूप की इस जानकारी से ही, नीट्त्शे बीसवीं शताब्दी की कुछ मूलभूत विशेषताओं का अनुमान लगाने में समर्थ हुआ है। हमने पहले इस बात का उल्लेख किया है कि वह इसे "युद्ध के क्लासिकी युग"* होने की आशा करता है, और वह इस बात की भी भविष्यवाणी करता है—"यथार्थ युद्धों के साथ अनिवार्य सैनिक सेवा, जिसमें सभी प्रकार के परिहासों की अवहेलना की जाती है।"[2] उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही १८७०-७१ के युद्धों की तरह, छोटे युद्धों की जानकारी प्राप्त हुई, जबकि यह सम्भव प्रतीत हुआ कि युद्ध बिलकुल ही समाप्त हो जायेगा। नीट्त्शे के अनुसार आने वाला युग, महान युद्ध, सैनिक संगठन, राष्ट्रवाद, उद्योग, विज्ञान और सुख की प्रति-

* पृष्ठ ३३ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

योगिता पर आधारित होगा, और "आक्रमण करने के अधिकार, और बुभुक्षा, दासता, प्रतिशोध की शक्ति से इसका विकास होगा, और इसकी महान देन होगी, 'महान अपराधी'। हमने उसके समय से ही इस प्रकार की कुछ चीजें देखी हैं। सबसे असाधारण बात सम्भवतः आने वाले नास्तिवादी का चित्रांकन है।" उसे किसी भी प्रकार से इस बात की जानकारी नहीं है वह किधर जा रहा है। रिक्तता : उसने उन्माद द्वारा इस पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया—संगीत का उन्माद : महानतम व्यक्तियों के पतन के दुःखद आनन्द में निष्ठुरता का उन्माद; एकाकी व्यक्ति या युग की अन्धपूजा का उन्माद विज्ञान के उपकरण के रूप में, उन्मादपूर्ण कृति में, निमग्न होने का प्रयास; अनेक निम्न प्रकार के सुखों की ओर किसी का ध्यान दिलाने के लिए किसी का सामान्यीकरण करने का शील-संकोच एक प्रकार का रहस्यवाद शाश्वत शून्यता का भोगविलास, कला के लिए कला, आत्म-विरक्ति के विरुद्ध एक प्रकार का स्वापक, किसी प्रकार का कार्यक्रम, किसी प्रकार का दुराग्रह, इन सबके उलझन का अर्थ, संयमन (अतिमात्र में सुख नहीं) के सामान्य अभाव के परिणामस्वरूप बीमारी है।[1] साथ ही नीट्त्शे जानता है संभवतः ध्यानपरायण बौद्ध धर्म की तरह नहीं रह सकता : कि नास्तिवाद इस "व्यर्थ" का चिन्तन मात्र नहीं है, और न यह विश्वास मात्र है कि प्रत्येक वस्तु को नष्ट करने के काम में अपने को लगाता है . अगर आप चाहें, तो असंगत है : किन्तु नास्तिवाद तार्किक होने की अनिवार्यता में विश्वास नहीं करता। .... केवल "नहीं" कहकर रुक जाना सम्भव नहीं है।[2]

और नास्तिवाद के कारण ? इस सम्बन्ध में टिप्पणियों की एक दूसरी श्रृंखला है जो स्पष्ट रूप से नीट्त्शे की अपूर्ण मरणोपरान्त कृति में इन कारणों का विशद् विवेचन है यह एक ऐसी श्रृंखला है जिस पर विस्तार से विचार करना उचित होगा।[3] इसका क्षेत्र बतलाने के लिए, कुछ बातों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा।

यह इस प्रश्न से आरम्भ होता है। "नास्तिवाद निकट है। सबसे रहस्यमय अतिथि के रूप में यह कहाँ से आया ?" और तब नीट्त्शे अपनी आरम्भ बिन्दु की परिभाषा देता है : "यह सोचना भूल है कि सामाजिक आवश्यकताएँ या शारीरिक अवनित या विकार नास्तिवाद के कारण हैं। हमारा युग सबसे निष्कपट और सम्वेदनशील युग है।" वह हमारी स्थिति के एक तत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित करता है जो सचमुच में भ्रान्तिपूर्ण है, हम सम्भवत पहले के युगों को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अपेक्षा अधिक सम्वेदनशील हैं उदाहरण के लिए युद्ध के प्रति अधिक सम्वेदनशील हैं, जिसे हाल ही में अन्तिम रूप में स्वीकार कर लिया गया या अन्याय के प्रति अधिक सम्वेदनशील हैं जहाँ कहीं भी यह होता है, और व्यावहारिक मामलों और सामाजिक समस्याओं पर विचार करने में सम्भवतः हम उन्नीसवीं शताब्दी की अपेक्षा अधिक ईमानदार हैं। किन्तु इससे हमें अधिक सहायता नहीं मिलती, क्योंकि गलती के सम्वन्ध में हमारा बोध हमें जो करना चाहिये, उसके बोध के अनुरूप नहीं है।

नीट्त्शे नास्तिवाद के अन्य कारणों में वास्तविक कारणों का उल्लेख करता है।

१. ईसाई धर्म का पतन..."ईश्वर सत्य है" "मत के" विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में जब हमारा हठधर्मी मत है "सब कुछ असत्य है।" यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि नीट्त्शे जो पहले ईसाई धर्म का इतना छिद्रान्वेषी था, अब नास्तिवाद के कारणो में इसकी कमजोरी को प्रथम स्थान प्रदान करे।

२. "नैतिकता के सम्वन्ध में संशयवाद अत्यधिक निर्णायक तथ्य है। इस जगत् से परे पलायन करने का प्रयास करने के बाद इस जगत् का अर्थ शास्तिविहीन रह जाता है और इस प्रकार इसका अन्त नास्तिवाद में होता है। हर चीज निरर्थक हो जाती है।" वह उन दार्शनिकों पर आरोप लगाता है जिन्होंने इस विनाश में योग देने वाले "नैतिक ईश्वर" को समाप्त करने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में वह विशेष रूप से हेगेल का उल्लेख करता है जिसने प्रगति में आस्था रखने का मार्ग तैयार किया और सर्वेश्वरवाद का भी उल्लेख करता है (जो कई लोगों को ईसाई धर्म का विकल्प प्रतीत हुआ) चूंकि नैतिकता संकल्प स्वातन्त्र्य की आस्था पर आधारित है अतः नियतत्त्ववाद को, चाहिए कि वह इसे नष्ट करे, चाहे यह किसी भी रूप में सामने आये। आश्चर्य की बात है कि इस पैरा में नीट्त्शे नास्तिवाद के और कारणों का उल्लेख करता है : "ऋषि, मुनि, कवि के लोकप्रिय आदर्शों का लोप"—उन मूल्यों की ओर संकेत जिनकी वह अब स्थापना करना चाहेगा।

३. "सत्य", "सुन्दर" और "शुभ" में विरोध। ये निरपेक्ष पारम्परिक मूल्य एक समस्या के रूप में सामने आते हैं क्योंकि दोनों भिन्न हैं और दोनों में अन्तःसम्वन्ध भी है। वे इसलिये भिन्न हैं कि सत्य वस्तुओं के मूल स्वरूप की ओर संकेत करता है, जबकि सुन्दर उसके रूप रंग में दिखलाया जाता है, उनके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बाह्य रूप और शुभत्त्व का सम्बन्ध मानवीय कार्यों से है। किन्तु उनमें अन्तः-सम्बन्ध भी है। यह बात तब स्पष्ट होती है जब कोई इनमें से किसी एक को अस्वीकार करता है, क्योंकि इस प्रकार का प्रयास हमेशा दूसरे को नष्ट करता है। नीट्त्शे के मन में सम्भवतः अपने उस युग में सौन्दर्य की उपासना का विचार था (बाद में वह स्वच्छन्दतावाद का उल्लेख करता है), जिसने सत्य और शुभत्त्व को असंगत माना और इस प्रकार वह अक्सर सामान्य वैभव की ओर बढ़ा, जिसे, उदाहरण के लिए हम विक्टोरियन या विलहेल्मिनियम वास्तुकला में पाते है। आज सौन्दर्य का मूल्य घट गया है क्योंकि यह अपनी पसन्द की चीज है; किन्तु जब एक बार यह कर दिया जाता है, शुभत्त्व भी पसन्द की चीज़ हो जाती है, इसके सम्बन्ध में हम पाँचवे अध्याय में विचार करेंगे। इसके अतिरिक्त सत्य को वैज्ञानिक सत्य में सीमित कर दिया गया है, जो, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, मानवीय अनुभव में प्राप्त होने वाले सत्य के साथ न्याय नहीं कर सकते।

४. आज के प्राकृतिक विज्ञान के नास्तिवादी परिणाम जो अन्त में, विज्ञान विरोधी विचार की ओर हमें अग्रसर करते हैं। कापरनिकस के समय से मनुष्य मध्य से में "अज्ञात में चलता है यहाँ नीट्त्शे एक ऐसे विचार की ओर संकेत करता है जो अस्तित्ववाद में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जब कि तर्कबुद्धि युग ने प्राकृतिक विज्ञान का स्वागत किया क्योंकि इसने विश्व के यथार्थ विस्तार को प्रकट किया, पास्कल को पहले से ही डर था कि अपरिमितता और शाश्वतता अपना अर्थ खोने के लिए बाध्य है क्योंकि कापरनिकस प्रणाली ने उन्हें आध्यात्मिक से भौतिक जगत् में स्थानान्तरित कर दिया। "जब मैं अपने जीवन की छोटी अवधि पर विचार करता हूँ, जो पहले और बाद की शाश्वतता में समाहित है, छोटे दिक् पर विचार करता हूँ जिसे मैं भरता हूँ और जिसे मैं उन दिनों की अपरिमित में समाहित देख भी सकता हूँ, जिनसे मैं अनभिज्ञ हूँ और जो मुझे अनभिज्ञ हैं मुझसे भय होता है ''' इन अपरिमित दिनों की नीरवता से मुझे डर लगता है।[१] किन्तु नीट्त्शे अस्तित्ववाद के खतरे को भी देखता है...... वह खतरा यह है कि विशुद्ध वैज्ञानिक विचार के विरुद्ध प्रतिक्रिया से कई लोगों को अबुद्धिवाद की ओर ले जा सकता है।

५. राजनीतिक एवं आर्थिक विचार-पद्धति के नास्तिवादी परिणाम, जहाँ सभी सिद्धान्त पाखण्डपूर्ण मात्र हो जाते हैं, और जो सामान्यता, दयनीयता,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कुटिलता का वातावरण तैयार करते हैं"। बाद में वह इतिहास के नास्तिवादी परिणामों की ओर संकेत करता है। हमने प्रथम अध्याय में देखा है कि वह जिन अभिगमों की आलोचना करता है उनसे हम आन्तरिक अनुभूतियों पर विचार करने में समर्थ नहीं होते हमें इस मनुष्य-वर्ग का अभाव है, जिसका सम्बन्ध मुक्ति से है, जो हमें न्यायोचित बना सकें, उस व्यक्ति का अभाव है जो हमें बचाता है–अपने नवीन मूल्यों की ओर एक दूसरा आश्चर्यजनक संकेत।

६. "राष्ट्रवाद"–बिना किसी टीका टिप्पणी के। नीट्त्शे स्पष्टतः इस बात को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेता है कि राष्ट्रवाद से गलत मूल्यों की स्थापना होती है, यह एक ऐसा तथ्य है जिसे उस समय याद रखना चाहिये जब किसी भी प्रकार का हठधर्मी राष्ट्रवादी उसे अपना दार्शनिक बनाने का प्रयास करता है।

रिचार्ड वैग्नर के गीत-नाट्य "दि ट्वीलाइट ऑफ दि गॉड्स" का भी विशेष रूप से उल्लेख है। प्राचीन पौराणिक कथा में झुटपुटा का अर्थ दिव्य, मानव जगत् के पूर्ण विनाश से है, अतः इसे महाविपदा के रूप में देखना चाहिये। परन्तु वैग्नर इसे रोमानी बनाता है और इसका आदर्शीकरण करता है, जिसके कारण नीट्त्शे इस गीति-नाट्य को "नास्तिवाद की तैयारी" कहता है, क्योंकि यह विनाश के नास्तिवादी आनन्द का मार्ग प्रशस्त करता है।

हमारे युग का निदान, अवस्तुता तथा अवस्तुतता से आनन्द प्राप्त करने के खतरे का बोध, तर्कना की अस्वीकृत–दर्शन के इन पक्षों ने अस्तित्दवाद का मार्ग प्रशस्त किया, जैसे कि सार्त इस बात को स्वीकार करता है, जब वह यह कहता है कि मनुष्य में अनुभवातीत की नीरवता से संयुक्त धार्मिक आवश्यकता की दृढ़ता से ही, कल की तरह आज भी, हमारा सम्बन्ध है। यह एक ऐसी समस्या है जो नीट्त्शे को परेशान करती है "किन्तु इस विचार पद्धति के साथ एक दूसरा सम्पर्क भी है जिसे नीट्त्शे 'प्रायोगिक विचारना' की संज्ञा देता है" .....वह अपने सभी विचारों को चरम निष्कर्षों तक पहुँचाने का ही प्रयास नहीं करता है, प्रत्युत वह उनसे जीवन प्राप्त करने का भी प्रयास करता है। उसके लिए, जैसाकि अस्तित्ववादियों के लिए भी है, दर्शन का काम किसी अमूर्व प्रणाली का निर्माण करना नहीं है जो जीवन से विच्छिन्न हो जैसा कि यह वास्तविक रूप से रहा है, प्रत्युत् इसे एक ऐसी जीवन पद्धति प्रकट करनी चाहिए जिसकी परीक्षा अनुभव से हो सके।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हमने पहले इस वात का उल्लेख कर दिया है कि नीट्त्शे का उपदेश उसकी अपनी प्रकृति से ही भिन्न है। उसके लिए युद्ध एक भयावह अनुभूति थी, जिसकी वह बाद में प्रशंसा करता है, हालाँकि उसने १८७०-७१ के छोटे युद्धों में ही भाग लिया और चिकित्सा अर्दली के रूप में ही भाग लिया क्योंकि उस समय तक वह स्विस नागरिक हो गया था, उसे सिपाही के रूप में काम करने की अनुमति नहीं मिली। युद्धकौशल के वातावरण ने उसे "धुँधले कुहरे" के रूप में समाहित कर लिया, "कुछ समय के लिए तो मैं कुछ भी नहीं सुन सका, केवल रोने की आवाज सुनायी पड़ी जिसका कभी अन्त नहीं दिखलायी पड़ा"। जव उसकी वहन ने उसके निजी संघर्ष में आराम देने का प्रयास किया और उससे यह कहा गया कि "उसे प्रसन्न होना चाहिये क्योंकि यह नवीन और जिन्दादिल युद्ध है" तो उसने इस सलाह को जो उसके अपने विचारों के अनुकूल थी, व्यंयपूर्ण माना, और उसने इस वात को स्वीकार किया कि "मैं शत्रुता के लिए वुरी तरह पागल हूँ।" वह मनुष्य के महानतम खतरे, करुणा के विरुद्ध संघर्ष करता है क्योंकि वह इसके पूर्ण रूप से अधीन है। उसे अधिक निजी मूल्य देकर उपदेश दिया: मैंने अपने विरुद्ध पक्ष लिया क्योंकि "हर चीज जो मुझे विशेष रूप से चोट पहुँचाती है, कठिनाई से प्राप्त हुई।" और वह ऐसा करता है, क्योंकि उसका विश्वास है "हम अपने दोषों से ही आदर्श का दर्शन करते हैं।" विना किसी अत्युक्ति के वह अपने सम्वन्ध में कह सकता है "हमने पुल को नष्ट कर दिया है–इतना ही नहीं, हमने अपने पीछे की जमीन भी नष्ट कर दी है.........कुछ भी नहीं रहता है, केवल साहसी होना है, चाहे इसका कोई भी परिणाम निकले।"

नीट्त्शे उन कुछ लोगों में से एक है जो इस सम्भावना का सामना करता है कि अतिमानव बनने के स्थान पर मनुष्य पतन की ओर भी जा सकता है, वह फिर से वन्दर या कोई अमानुषिक जन्तु बन सकता है। जव वह यह कहता है कि कुछ भी सत्य नहीं है और प्रत्येक वस्तु अनुमत है, उस पर किसी भी विचार के सम्वन्ध में आपत्ति उठ सकती है और वह विना किसी आश्रय के जीने की हिम्मत करता है। इस प्रकार वह एक दार्शनिक विचार की माँग करता है जो अस्तित्ववाद के लिए अनिवार्य है: "हमें निरन्तर अपने विचारों को दुःख सहकर जन्म देना चाहिए जैसे कि माताएँ अपने बच्चे को अपना सव कुछ दे देती हैं: रक्त, हृदय, अग्नि, लालसा, मनोभाव, यातना, अन्तःकरण, नियति, प्रारब्ध।"[1] यहाँ यह वात स्पष्ट हो जाती है कि वह अपने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शन के लिए अपना उत्सर्ग कर देना चाहता है (हमने पहले इस प्रकार के विचार के सम्बंन्ध में कुछ शर्तें लगायी थीं, किन्तु यह उसके विकास की अन्तिम अवस्था के वोध्र की मात्रा की ओर निर्दिष्ट करता है न कि उसके सर्वसाधारण विचार की ओर) अपने को सम्बोधित करते हुए वह अपनी माँगों के सम्वन्ध में कोई संशय नहीं छोड़ता : "आप फिर कभी प्रार्थना नहीं करेंगे, और अपने अपरिमित विश्वास में फिर कभी शान्ति पाने में समर्थ नहीं होंगे—आप अन्तिम ज्ञान, अन्तिम शुभत्त्व, अन्तिम शक्ति प्राप्त करने के पूर्व कभी चैन से नहीं रहेंगे और आप अपने विचार को काम में नहीं लायेंगे .....आपके लिए कोई अव दैविक प्रतिशोधी नहीं रहा, जो अन्त में सभी चीजों को ठीक करता है.........आपके लिए अव कोई विश्रामस्थल नहीं रहा, जहाँ केवल पाना हो, कुछ खोजना नहीं। यह हृदयस्पर्शी संकल्प है और यह उसके उपदेश के खतरों और दुःख सहने की ओर इंगित करता है।"

अन्त में वह फूट पड़ा। हालाँकि उसका पागलपन सम्भवतः उसकी शारीरिक बीमारी का परिणाम है, इस प्रकार से फूट पड़ने का कारण उसके असहनीय विचार हैं। हम यह मान सकते हैं कि उसके विचारों के कारण यह बीमारी हुई, जो उसकी प्रकृति के प्रतिकूल थे और नीट्त्शे ने जानबूझ कर अपना पागलपन बढ़ाया। न तो उसके दोस्त ही, पीटर गास्ट और ओवरवेक, इस भयानक आभास से बच सके कि उसने पागलपन की शरण ली, या वह पागल होने का बहाना कर रहा था। अब हम जानते हैं कि यह गलत है, फिर भी जब एक बार उसकी चेतना के अवरोध हटा लिये गये तो यह स्पष्ट हो गया कि वह कितने समय तक अपनी यथार्थ प्रकृति को दबाये रहा। जब ट्युरिन की सड़कों पर उसने यह देखा कि एक किसान एक घोड़े के प्रति निष्ठुर है तो उसमें करुणा भर आयी ; उसने उसे अपने आलिंगन में ले लिया और इसे "भाई" कहकर पुकारा—यह नीट्त्शे के मुंह से निकला हुआ आश्चर्यजनक शब्द था। उसने अपने अन्तिम पत्रों में हस्ताक्षर किये, जबकि वे पागलपन की घड़ियों में लिखे गये थे—"नीट्त्शे—सीज़र" उसने डायोनिसस दि क्रूसीफायड भी लिखा।

ईसामसीह के प्रति उसके विचार विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। उसने ईसाई धर्म में गिरिजाघरों की ही कटु आलोचना की। "गिरिजाघर ईसामसीह के उपदेश के प्रतिकूल हैं—और उसने अपने अनुयायियों को उपदेश देने का उपदेश दिया, उसके विरुद्ध भी हैं।"[1] सम्पूर्ण रूप से, वह सन्त पॉल द्वारा ईसामसीह के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उपदेशों का गलत अर्थ लगाने के विरुद्ध है, वह गिरिजाघर के संस्थापक के रूप में सन्त पॉल से घृणा करता है किन्तु वह ईसामसीह की आलोचना करने से बचता है। "दि एण्टीक्राइस्ट" पुस्तक में भी वह ईसामसीह के मूल उपदेशों की शायद ही आलोचना करता है। इसके बदले वह ईसामसीह को "मनोवैज्ञानिक प्रकार का व्यक्ति" मानता है, जो उस समय तक अनादरपूर्ण प्रतीत हो सकता है जब तक हम इस बात का पता न लगा लें कि वह अपने सम्बन्ध में भी अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता है। हम ईसामसीह के सम्बन्ध में उसके विचार को तब समझते हैं जब हम "दि विल टू पावर" में यह सूत्र पाते हैं: अगर अपराधी भी ईसामसीह के साथ सूली पर चढ़ाया जा रहा है और उसे मृत्यु के घाट उतारा जा रहा है, फिर भी उसका विश्वास है कि जिस रूप में ईसामसीह दुःख को सहन कर रहा है और मर रहा हैं, बिना किसी विरोध के, बिना किसी दुश्मनी के, प्रेम और शुभत्त्व की भावना के साथ, केवल मृत्यु का आलिंगन करते हुए, वही रास्ता ठीक है–अगर ये विचार अपराधी के हैं, तो उसने सिद्धान्त को समझ लिया और स्वीकार कर लिया और उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो गयी"[१]। इसी पुस्तक में आश्चर्यजनक रूप से वह कहता है, "आदर्श जीवन प्रेम और नम्रता में, उदार हृदय में, जिसमें निम्न लोगों के लिए भी स्थान है, अपने को बचाने, अपने ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए इच्छा का परित्याग करने में निहित है।"[२]

एक स्थान पर वह कहता है कि दोस्तोविस्की ईसाई धर्म का विवेचन करने में समर्थ होगा। नीट्शे के ज्ञान का प्रदर्शन करते हुए, यह उसकी उपलब्धियों की सीमाओं का भी हमें स्मरण कराता है। दोस्तोविस्की को ही पहले मौत की सजा मिली और फिर यह सजा रोक दी गयी और उसे साइबेरिया के लेबर कैम्प में भेज दिया गया; जिसके भाग्य में पागल होना बदा था, जो अपस्मारी, जुआरी था और उसके मन में हमेशा विनाशकारी भाव थे, जिसका जीवन अत्यधिक कठिन था, जिसे अन्त में मानसिक सन्तुलन और शान्ति प्राप्त हुई किन्तु नीट्शे पर यह शान्ति जबर्दस्ती लादी गयी थी। सच तो यह है कि नीट्शे ने मुख्य रूप से अपनी अभावात्मक आलोचनाओं से अपने युग के निदान से पूर्वग्रहों के विनाश से और उन निष्कर्षों को दिखलाकर अस्तित्ववाद का मार्ग प्रशस्त किया, जिनसे सामान्य प्रत्याशाओं के विपरीत, अनेक स्वीकृत मतों का प्राधान्य होगा; उसने किसी भावात्मक नवीन उपदेश से मार्ग प्रशस्त नहीं किया। दोस्तोविस्की के उपन्यासों में स्वयं नीट्शे एक अच्छा पात्र हो सका होता, जैसा कि दोस्तोविस्की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के दो पात्रों से (किरिलोव, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके है और इवान करमजोव), इस बात का संकेत मिलता है, किन्तु दोस्तोविस्की नीट्त्शे के क्षेत्र से परे चला जाता है। अपनी एक कविता में नीट्त्शे "अज्ञात ईश्वर" के लिए अपनी इच्छा प्रकट करता है, फिर भी अनेक गहन अन्तर्दृष्टियों के होते हुए भी केवल ईश्वर की ही नहीं, अपनी विनाशकारी आलोचना की चुनौती का सामना करने के लिए, उसे कोई उत्तर नहीं सूझ पाया। उस पर पारम्परिक नैतिकता और ईसाईधर्म का प्रभाव पड़ा, किन्तु उसने उनका महत्त्व समझना शुरू किया था, और अनिच्छत से, शीघ्र ही वह पागल भी हो गया। अस्तित्ववाद में अति होते हुए भी, इसमें कुछ ऐसे भावात्मक तत्त्व हैं, जो उसकी अपेक्षा नहीं करते प्रत्युत कीर्केगार्ड की अपेक्षा करते हैं।*

नीट्त्शे का दर्शन विनाशकारी हो सकता है, परन्तु यह तिसपर भी विकास को सम्भव बनाता है, क्योंकि वह भविष्य का मार्ग बन्द नहीं करता। उसके लिए सच्चाई का अर्थ "अन्तर्यामिता" से सम्बन्धित है, जिसकी अनुभूति अभी और यहाँ हो सके उसी में केवल विश्वास करना; वह किसी ऐसी वस्तु को स्वीकार नहीं करता जो अनुभवातीत या अतिप्राकृतिक हो। "प्रतीति जगत् ही एक मात्र जगत् है," यथार्थ जगत् "झूठ है जो इसमें जोड़ दिया गया है।"[1] उसके दर्शन का यह अभिगम उसके समय के अनेक अभिगमों से मिलता जुलता था, विशेष रूप से उन अभिगमों से मिलता जुलता था जो विकासवाद पर या अन्य वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं पर आधारित हैं, किन्तु जबकि अधिकांश दार्शनिकों का यह विश्वास है कि वे इस बात को दिखला रहे हैं कि प्रत्येक वस्तु की व्याख्या तर्कबुद्धि से हो सकती है, नीट्त्शे इस बात से अवगत रहता है कि सभी

* मैं जानता हूँ कि मैंने नीट्त्शे के दर्शन के केवल दो सीमित पक्षों पर विचार किया है, जिससे उसके साथ न्याय करना नहीं होता। उसकी कुछ सबसे अधिक विलक्षण अन्तर्दृष्टियों के सम्बन्ध में तो उल्लेख हुआ ही नहीं है, उदाहरण के लिए हम केवल दो बातों का उल्लेख करेंगे–बीमारी के भावात्मक महत्त्व के सम्बन्ध में या कलाकार की प्रकृति के सम्बन्ध में वह क्या कहता है। फिर भी यह कथन कि उसका महत्त्व मुख्य रूप से उसकी अभावात्मक उपलब्धि में निहित है, व्यापक सन्दर्भ में भी मुझे सही लगता है। वह बार-बार विवेकपूर्ण एवं विश्लेपणात्मक रूप से कहता है, जिससे अन्य लोग उसी पथ पर अग्रसर हुए हैं; किन्तु इनकी कृतियाँ (उदाहरण के लिए टॉमस मैन की कृतियाँ जो नीट्त्शे से काफी प्रभावित हुआ) एक युग के अन्त की चीजें हैं, किसी नये युग के आरम्भ की चीजें हैं। मैं कहीं भी इस बात का चिह्न नहीं देख सका हूँ कि नीट्त्शे ने इस प्रकार के किसी नवीन आरम्भ में प्रत्यक्ष रूप से योग दिया हो। परन्तु विचारों के नये विकास के संकेत मिले हैं। विशेष रूप से अध्याय ८ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समस्याओं के होते हुए भी जिनका समाधान हो सकता है, अस्तित्व सम्बन्धी तथ्य अभी भी एक रहस्य है जिसका उद्घाटन नहीं हुआ है। चूंकि वह रिक्तता के भाव को जानता है, जो ईसाई संप्रत्यय से उत्पन्न हुआ है, वह यह भी जानता है कि जिन अधिकांश संप्रत्ययों का हम प्रयोग करते हैं, उनका महत्त्व समाप्त हो चुका है; अतः वह "अन्तर्यामिता" के सम्बन्ध में पुनः विचार करने का प्रयास करता है। परन्तु इस सन्दर्भ में, उसके दर्शन के अनेक व्याघातों का महत्त्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उनसे पता चलता है कि कोई भी नया शब्द अनुभवातीत को पूर्ण रूप से नहीं हटा सकता है; उसकी स्पष्टवादिता और ईमानदारी उसे झूठी पूर्णता से बचा लेती है। ईश्वर के रूप में मनुष्य अभी भी अपनी उत्पत्ति की व्याख्या नहीं कर सकता, न तो वह नियति को समझ पाता है, न विश्व को, वह निराशा में डूब जाता है। नीट्त्शे से हम यह समझना सीखते हैं कि कीर्केगार्ड ने क्यों अस्तित्व सम्बन्धी अपने भावात्मक दर्शन के आधारविन्दु के लिए पहले नैराश्य को चुना।

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चार

कीर्केगार्ड

जब १८५५ में कीर्केगार्ड की मृत्यु हो गयी, तब इस बात की काफी सम्भावना प्रतीत हुई कि उसकी कृति समाप्त हो जायेगी। उसकी पुस्तकें डेनमार्कवासियों की भाषा में लिखी गयी थीं और यह एक ऐसी भाषा थी जिसे उसके देश के बाहर शायद ही कोई जानता था और डेनमार्क के अतिरिक्त, जहाँ वह लोकप्रिय था, कोई उसे नहीं जानता था, किन्तु डेनमार्क में भी अगर उसे लोग जानते थे तो इसके कारण थे, जिसका उसकी कृतियों के साथ शायद ही कोई सम्बन्ध था—वे कारण थे—स्थापित गिरिजाघर पर आक्षेप करना और अन्य निजी मामले, जिनका हम बाद में उल्लेख करेंगे। किन्तु आज, उसकी मृत्यु के एक सौ साल से भी अधिक समय के बाद हम बिना अत्युक्ति के यह कह सकते हैं कि वे आज के युग के लिए—अगर सबसे महत्त्वपूर्ण नहीं तो कम से कम सबसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों एवं धर्मशास्त्रियों में वे एक तो हैं ही। हाल के दार्शनिक एवं धर्मशास्त्रीय चिन्तन पर उनका जितना प्रभाव पड़ा है उससे हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि उनके दर्शन का हमारे लिए विशेष रूप से आज महत्त्व है।

हमने पहले इस बात का उल्लेख किया है कि उन्होंने ही "अस्तित्ववाद"* शब्द का निर्माण किया। दार्शनिकों ने अमूर्त्त तत्त्वमीमांसीय प्रणालियों का

* देखिये, पृष्ठ ११-१२

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निर्माण करने के लिए जो प्रयास किये वे उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गये; कीर्केगार्ड ने ऐसे सभी प्रयासों का विरोध किया, विशेष रूप से उसने हेगेल पर आक्षेप किया, क्योंकि उसने ही इस बात का दावा किया था कि अपनी तर्कना द्वारा प्रत्येक वस्तु की, विश्व और मनुष्य की पूर्ण व्याख्या पा ली है। कीर्केगार्ड ने इस बात पर बल दिया कि दर्शन को अमूर्त्त नहीं होना चाहिये, इसे वैयक्तिक अनुभव पर उस ऐतिहासिक अवस्था पर आधारित होना चाहिये जिसमें मनुष्य अपने को पाता है, जिससे यह परिकल्पना का नहीं, वल्कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन का आधार बन सके। उसी प्रमाण को स्वीकार करना है जिसका अनुभव द्वारा परीक्षण किया जा सके और जिसका परीक्षण हो चुका है।

इस उपागम के लिए धन्यवाद कि कीर्केगार्ड ने हमारी मुख्य समस्याओं में एक समस्या को, अधिकांश दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझा। वह समस्या यह है कि जब आधुनिक व्यक्ति धर्म, विश्वास और विशेष रूप से ईसाई धर्म को स्वीकार करना चाहता है तब वह कठिनाई का सामना करता है।

सम्भवतः प्रथम विश्व युद्ध के पहले की पीढ़ियों पर वैज्ञानिक विचार-पद्धति का जितना एकान्तिक रूप से आधिपत्य था, उतना हमारे ऊपर अब नहीं रहा; ऐसा जान पड़ता है कि धर्म विश्वास की ओर लौटने की काफी इच्छा हुई। किन्तु इस प्रकार के धर्मविश्वास को स्वीकार करने की हमारे साथ अभी भी कठिनाई है और सम्भवतः इसकी अनुभूति, इस इच्छा के कारण ही और अधिक तीव्र हो गयी है। विज्ञान की विभिन्न कोटियों और भौतिकवाद की सफलता के सामने हम किसी अनुभवातीत सत्ता में कैसे विश्वास कर सकते हैं; जब हम इस संसार में असीम दुःख और अन्याय देखते हैं, जब हम दो महान् युद्ध और एकदलीय शासन पद्धति की अमानवीय ज्यादतियों को देख चुके हैं तब हम किसी दिव्य शक्ति में कैसे विश्वास कर सकते हैं? क्या यह नहीं कहा गया है कि एक भी प्राणघातक जीवाणु के अस्तित्व से, प्रेममय ईश्वर में विश्वास करना असम्भव हो जाता है? निस्सन्देह, वैज्ञानिक मत, जो जान पड़ता है कि अपने संसार की भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करता है—और इतिहासक्रम, दोनों ने धर्म-विश्वास की समस्या को पहले की अपेक्षा और भी जटिल बना दिया है।

इस समस्या पर विचार करने के लिए, कीर्केगार्ड वैयक्तिक अनुभूति के अर्थ में धर्मविश्वास को समझने का प्रयास करता है और वह अपने समर्थन में बाइबिल के दो व्यक्तियों—जॉब और अब्राहम—को चुनता है। इन दो व्यक्तियों को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समझने के प्रयास में वह धर्मविश्वास का दिव्य दर्शन करता है और देखता है कि यह कोई सुखद अनुभूति नहीं है, प्रत्युत् "भय एवं कम्पन" की अनुभूति है। इससे वह अस्तित्ववाद के तीन मुख्य विचारों को स्पष्ट करने में समर्थ होता है—'परम विरोधाभास, विभिषा-संप्रत्यय (जिसके विशेष अर्थ पर बल देने के लिए, दार्शनिक अक्सर जर्मन शब्द "ऐन्ग्स्ट" का प्रयोग करता है), और "वितल में कूदने" अर्थात् अज्ञात में कूदने का विचार।"

वह हमारे सामने जॉब्र को प्रस्तुत करता है, जिससे अकारण सब कुछ छीन लिया गया और जिसे दुःखद अवस्था में छोड़ दिया गया। जब कीर्केगार्ड उसे सम्बोधन करता है तो हमें ऐसा लगता है कि वह किसी व्यक्ति से बात कर रहा है, किसी परम्परागत व्यक्ति से नहीं, क्योंकि वह कहता है: "मुझे तुम्हारी तरह किसी व्यक्ति की आवश्यकता है, जो यह जानता है कि जोर से शिकायत कैसे की जाये, जिससे उस स्वर्ग में उसकी आवाज गूंजे, जहाँ ईश्वर मनुष्य के विरुद्ध योजना बनाने के लिए शैतान से सम्भाषण करता है।"[१] परन्तु इस प्रकार की योजना बनाने में कीर्केगार्ड प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति देखता है : "मैं कहाँ हूँ ? मैं कौन हूँ ? वह कौन है जिसने मुझे इस संसार की ओर लुभाया है और अब मुझे छोड़ दिया है ? मुझसे परामर्श क्यों नहीं लिया गया ? मैंने इस महान् कार्य में रुचि कैसे ली, जिसे वे सत्ता के नाम से पुकारते हैं ? मुझे इसमें भाग लेने के लिए बाध्य क्यों किया गया ?"[२] पास्कल बार-बार चिल्लाता है : "वहाँ रहने की अपेक्षा यहाँ रहने में मुझे भय और आश्चर्य हो रहा है; क्योंकि मुझे इस बात का कारण नहीं समझ में आता कि वहाँ रहने की अपेक्षा मैं यहाँ हूँ, उस समय की अपेक्षा अब क्यों ऐसा है। किसने मुझे यहाँ रखा है ? किसके आदेश और निदेश से मुझे यह स्थान और समय नियत किया गया है ?" अगर मेरा जन्म और इसके साथ मेरा स्वभाव निरर्थक अप्रत्याशित घटना के कारण हैं तो मैं इसके लिए उत्तरदायी कैसे हो सकता हूँ ?

जन्म (और मृत्यु के भी, जैसा कि हम बाद में देखेंगे) के रहस्यात्मक स्वरूप पर बल देना, अधिकांश अस्तित्ववादियों के लिए साधारण बात रही है; इसी प्रकार से वे हमें इस बात से अवगत रखना चाहते हैं कि हमारा अस्तित्व हमारे लिए कितना रहस्यात्मक रहेगा और उस बात की अवहेलना करते हुए, हमारे जीवन को झुठलाने या अत्यधिक सरल बनाने से रोकते हैं, जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती। कोई भी मेरे सामने कभी इस बात की व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं होगा कि दूसरे राष्ट्र या युग में जन्म लेने की अपेक्षा मेरा जन्म

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस युग या राष्ट्र में क्यों हुआ है, मेरी इच्छा के परिवार में मेरा जन्म क्यों नहीं हुआ है और मेरी इच्छा के प्रतिकूल मेरा स्वरूप क्यों बना है। इसके लिए जैविक, मनोवैज्ञानिक या सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है, किन्तु उनका सम्बन्ध अधिक मौलिक कारणों से है, जो हमारी पहुँच के बाहर हैं। एक बार जब इस प्रकार की मौलिक समस्या हमारे सामने आ जाती है तो दर्शन सरलता से इसका उत्तर, अगर कोई हो—नहीं दे सकता। धर्मविश्वास का पता लगाने में इससे कीर्केगार्ड का मार्गदर्शन हुआ।

जॉब के मित्र उसे सांत्वना प्रदान करने का प्रयास करते हैं। उसका दुःख उचित प्रतिकार है, उसके पापों का दण्ड है; अगर वह इसकी शरण में जाता है, तो फिर सब कुछ ठीक हो जायेगा। किन्तु जॉब इतनी आसानी से तसल्ली नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि यह व्याख्या असत्य है। वह घोर निराशा में डूब जाता है, क्योंकि वह इस बात का अनुभव करता है कि वह ईश्वर के विरुद्ध भी ठीक है। "जॉब का रहस्य, उसकी जीवनशक्ति, उसकी दृढ़ता, उसका विचार यह है कि सब कुछ होते हुए भी वह ठीक है......उसका दावा है कि ईश्वर के साथ उसका सम्बन्ध अच्छा है, वह जानता है कि उसका अन्तरतम अबोध और पवित्र है, जहाँ उसे इस बात की चेतना है कि ईश्वर भी इसे जानता है, फिर भी उसका सम्पूर्ण अस्तित्व उसके प्रतिकूल है।"[१] तो भी इस पूर्ण विरोधाभास से कि उसे इस बात की जानकारी है कि ईश्वर के विरुद्ध होते हुए भी वह ठीक है, जिसके विरुद्ध वह ठीक नहीं हो सकता, जबकि सम्पूर्ण अस्तित्व उसके प्रतिकूल है—वह अपनी निराशा में, अपने मौलिक "एंग्स्ट" में इस बात का पता लगा लेता है कि धर्मविश्वास की क्या माँग है और अन्त में, वह फिर भी गलत नहीं है। ईश्वर मनुष्य से इतने अपरिमित रूप में पूर्ण रूप से समझने की आशा नहीं कर सकता और इस प्रकार हमें प्रतीयमान अचैतन्य को स्वीकार करना चाहिये। जॉब को प्रत्येक वस्तु के लिए ईश्वर की प्रशंसा करनी है, दरियाई घोड़ा और मगर जैसे प्रतीयमान निरुद्देश्य जन्तुओं के लिए भी। "धर्मविश्वास का अर्थ होता है पूर्ण आत्मसमर्पण; धर्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए, मुझे अपनी आँखें बन्द कर लेनी चाहिये और विश्वास से निरर्थकता में कूद पड़ना चाहिये।"[२] मुझे अगाध गर्त में कूदने का जोखिम उठाना चाहिये।

"क्रियाओं" का अर्थ धर्मविश्वास की क्रिया और स्वयं क्रिया से है। अब्राहम की कहानी से इन्हें और भी स्पष्ट किया जाता है। कीर्केगार्ड के लिए यह भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नैतिक रूप से उन्नत करने वाली कहानी नहीं है; वह अब्राहम की "अस्तित्ववादी स्थिति" को फिर से जीवित करने का प्रयास करता है। ईश्वर ने वचन दिया है कि "उसके मूल में विश्व की समस्त जातियों को वरदान मिलेगा..." समय बीता, यह (वचन) अबुद्धिमत्तापूर्ण हो गया, अब्राहम विश्वास करता रहा। जब वह बहुत बूढ़ा हो गया, उसे एक पुत्र हुआ, किन्तु उससे यह कहा गया कि वह अपने पुत्र का बलिदान चढ़ाये। अतः सब कुछ व्यर्थ सिद्ध हुआ– यह इतनी भयानक घटना थी कि यह न हुई होती तो ही अच्छी बात थी। इस प्रकार ईश्वर अब्राहम के साथ केवल खेल खेल रहे थे। उन्होंने अद्‌भुत रूप से निरर्थक को वास्तविक बनाया और बदले में वह इसे नष्ट करेगा वह कौन है जिसने उस बूढ़े व्यक्ति के सहारे को छीन लिया वह कौन है जो उस बूढ़े आदमी को दुःख देता है वह कौन है जो यह अपेक्षा करता है कि वह स्वयं सब कुछ करेगा? क्या उस पूज्य बूढ़े व्यक्ति के प्रति दया नहीं है, उस बच्चे के प्रति भी नहीं ? और फिर भी अब्राहम ईश्वर का चुना हुआ है, और ईश्वर ही उससे परीक्षा लेता है। अब सब कुछ समाप्त हो जायेगा।[१] उसे इस नैराश्य को सहन करना है; इसे वह तत्काल बलिदान देकर कम नहीं कर सकता; क्योंकि उसे तीन निरन्तर दिन और रात चलकर उस पर्वत पर पहुँचना है, जहाँ उसे बलिदान देना है। कीर्केगार्ड हमें इस लम्बी यात्रा की घोर व्यथा का बोध कराता है; उसके बाद वह हृदयविदारक और भयानक शब्दों में परीक्षा के अन्तिम क्षणों का—लकड़ी चुनने, छुरी तेज करने और चमत्कार के पूर्व अन्तिम क्षणों के उत्पीड़न का— वर्णन करता है। यह सचमुच में भयानक, आतकपूर्ण, खौफनाक और हृदय को थर्रा देने वाला दृश्य है। फिर भी पूर्ण विरोधाभास है, जिसमें समस्त विपरीत प्रमाणों के बावजूद आशा और विश्वास शामिल है; अब्राहम के अन्तःस्थल में पूर्ण विश्वास है—उसे यह विश्वास है कि सब कुछ ठीक होगा, इस निरर्थकता में भी कुछ अर्थ होगा, क्योंकि ईश्वर ने ही तो उसके बेटे की बलि माँगी है। इस विश्वास के बिना, अब्राहम उसकी आज्ञा का पालन नहीं कर सका होता क्योंकि तब तो उसके बेटे की बलि हत्या का रूप ले लेती। किन्तु यह विरोधाभास अन्त तक विरोधाभास ही बना रहता है : अब्राहम अपने विश्वास के बारे में कुछ कह नहीं सकता, अपने से भी नहीं, क्योंकि इससे उसका बलिदान एक ढोंग बन जायेगा; उसे भयानक माँग और अन्तिम (गाढ़े की)* सहायता के बीच अन्तर्विरोध

---

* यह एच० एच० फार्मर के शब्द हैं, जो ईश्वर को इस रूप में देखता है कि वह हमें "निरपेक्ष माँग" और "अन्तिम (गाढ़े की) सहायता" का बोध कराता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

को असमाधेय रूप में इसलिये अनुभव करना कि वह आतंक और आशा दोनों का पूर्ण रूप से अनुभव करे। विश्वास के कार्य को, अर्थात् स्पष्ट रूप से विपरीत प्रमाण मिलने के बावजूद विश्वास करने, स्वीकार करने और आत्मसमर्पण करने की निरन्तर चाह को, स्पष्ट तार्किक निष्कर्षों द्वारा अनावश्यक नहीं बनाया जा सकता।

अतः कीर्केगार्ड का विभीषा-संप्रत्यय असल में न तो स्वाभाविक और विशिष्ट भय है, न किसी ऐसे संकट का भय है, जिसका सामना किया जा सकता है। प्रत्युत यह एक अनुभूति है कि किसी के पैर के नीचे की जमीन खिसक गयी है, अर्थात् समस्त सुरक्षा और निश्चितता समाप्त हो गयी है, और अब तो ईश्वर पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता है—"अब सब कुछ समाप्त हो जायेगा।" जब इस मौलिक, इस तत्त्वमीमांसीय प्रकार की विभीषा से प्रत्येक वस्तु की नींव हिल गयी, जिस पर मनुष्य खड़ा है, जब—और तभी, कीर्केगार्ड के अनुसार मनुष्य अपने में उस गहनतम सत्ता का पता लगायेगा और उसकी पूर्ण अनुभूति प्राप्त करेगा जिसके सम्बन्ध में धर्म का दावा है कि वह विचार करता है। साथ ही, निरपेक्ष विरोधाभास इस बात का सुनिश्चय करता है कि वह कोई आसान मार्ग नहीं निकाल सकता, उसे "वितल में कूद लगानी होगी", जो ईश्वर से मनुष्य को अलग करता है, जिसे ईश्वर होने के लिए मानवीय ज्ञान के क्षेत्र से एकदम परे जाना होगा।

परन्तु इस स्थिति के विरोधाभासी स्वरूप का यह अर्थ होता है कि विभीषा और दुःख के बावजूद—सम्भवतः उनके कारण भी—हम उन अनुभूतियों द्वारा बच सकते हैं, जो उनका प्रतिकार करते हैं अगर हम उस विरोधाभास को पूर्ण रूप से स्वीकार करना चाहते हों तो ? किसी पर विश्वास लादना असम्भव है, हम अपने ऊपर भी नहीं लाद सकते, किन्तु तीव्र रूप से हम इसकी इच्छा कर सकते हैं; हमारी स्थिति चाहे जो कुछ भी हो, हम पूर्ण रूप से शक्तिविहीन नहीं हैं। हमें भय हो सकता है, क्योंकि विरोधाभास का तत्त्व इस बात को स्पष्ट कर देता है कि किसी प्रकार के वरण करने में दुःखद खतरा तो है ही। परन्तु कूद लगाने का निर्णय पक्का भी होगा, क्योंकि, चूंकि किसी अमूर्त और सामान्य रूप से सही निष्कर्ष से यह विरोधाभास दूर नहीं किया जा सकता, अतः हम महसूस करेंगे कि व्यक्ति के रूप में ही हम वरण कर सकते हैं, अर्थात् हम में से प्रत्येक को ही इसका वरण करना होगा और इसकी अनुभूति प्राप्त करनी होगी। "या तो विरोधाभास यह है कि व्यक्ति का परम सम्बन्ध परमतत्त्व के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साथ है या अब्राहम खो जाता है।"[१] इस असम्भाव्यता के बावजूद, ब्रह्माण्ड में देखने पर, प्रत्येक अत्यन्त सूक्ष्म व्यक्ति का महत्त्व है, मनुष्य किसी ऐसी परम-तत्त्वता की अनुभूति प्राप्त कर सकता है जो ईश्वर की परम-तत्त्वता से उसका सम्बन्ध जोड़ता है। विरोधाभास की यह अपरिहार्यता इस बात का सुनिश्चय करती है कि कूद में खतरा तो है ही, क्योंकि कूद लगाने के बाद जो परिणाम निकलते हैं, उनसे ही स्पष्ट अनुभूति की सम्पुष्टि होती है, हम उसके पूर्व कभी यह नहीं जान सकते कि हम ठीक हैं। किन्तु चूँकि इसमें खतरा ही है, हमें उस अनुभूति की पूर्णता और गहराई का बोध हो जाता है, जो हमारी तत्त्वमीमांसीय विभीषा पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। कीर्केगार्ड का विश्वास है है कि हम "ईश्वर की खुली बाँहों में" कूद लगायेंगे।

कीर्केगार्ड पर यह आरोप लगाया गया है कि उसने विरोधाभास पर बल देकर तर्कबुद्धि पर अकारण आक्षेप किया है। यह सत्य है कि वह "इसे विरोधाभास कहकर पुकारता है जिस पर कोई भी विचारण अपना अधिकार नहीं जमा सकता, क्योंकि विश्वास का आरम्भ वहीं से होता है जहाँ विचारण-क्रिया समाप्त होती है। यह सत्य हो सकता है कि वह उस गहरे गर्त पर अत्यधिक बल देता है जो मनुष्य को ईश्वर से अलग करता है, इस प्रकार इसका स्पष्ट रूप से अर्थ यह होता है कि मनुष्य में देवत्त्व का कोई गुण नहीं है—अर्थात् जैसाकि आगस्टाइन ने दावा किया था कि मनुष्य की स्वतन्त्रता पाप की स्वतन्त्रता है, जबकि प्रत्येक वास्तविक वस्तु ईश्वर से उत्पन्न होती है। किन्तु हम कूद लगाने की जोखिम क्यों उठाना चाहते हैं, जबकि हममें उसका कोई गुण नहीं है। परन्तु ये सभी आरोप, हालाँकि आंशिक रूप से न्यायोचित हैं—उनमें से कुछ आरोपों के सम्बन्ध में बाद में विचार करेंगे— फिर भी सभी सही नहीं हैं; क्योंकि हम जिस विरोधाभास की आलोचना करते हैं, उसकी ही अवहेलना करते हैं। कीर्केगार्ड तर्कबुद्धि और बुद्धि का आत्यन्तिक रूप से प्रयोग करता है, जिससे उसे इस बात का निश्चय हो जाये कि अबुद्धितत्त्व प्रारम्भ में ही अनुचित रूप से न घुस जायें; वह इसे केवल वहीं स्वीकार करता है जहाँ इसे टाला नहीं जा सकता और तर्कबुद्धि सहायक नहीं हो सकती। विभीषा की अनुभूतिपूर्ण अनिश्चितता या अवस्तुता ही हृदयविदारक अनुभूति है, किन्तु यह निराशाजनक नहीं है, क्योंकि इसी प्रकार से मनुष्य के भीतर की वास्तविकता प्रकट होती है। कीर्केगार्ड का दर्शन निस्सन्देह अतिसंयमी है, सम्भवतः अत्यधिक अतिसंयमी है, फिर भी इस संयम को निराशावाद के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

क्योंकि उसका विश्वास है कि अगर मनुष्य नैराश्य से टूट जाता है तो उसने काफी गहराई से इसकी अनुभूति प्राप्त नहीं की है; अगर उसने की होती तो उसने अन्तःस्थल में उस सत्ता का पता पा लिया होता जो उसे बचा सकता। सम्भवतः हम यह भी कह सकते हैं कि इतिहास ने विरोधाभास में कीर्कगार्ड के विश्वास को पुष्ट किया है। उसने ईसाई धर्म को कभी आसान प्रतीत नहीं होने दिया; उसने सांत्वना या जीवन के अलंकरण के रूप में धर्मविश्वास का प्रतिनिधित्व नहीं किया, प्रत्युत पूर्ण सच्चाई से "भयावह माँग" के रूप में किया; और फिर भी वही था— वे लोग नहीं, जिन्होंने सुगम मार्ग निकालने का प्रयास किया, जिसने यूरोप के बुद्धिजीवी-वर्ग में ईसाई धर्म को पुनः प्रतिष्ठापित किया। उसकी प्रत्यक्ष निराशापूर्ण माँगें निराशाजनक सिद्ध नहीं हुई हैं, क्योंकि इनसे ईसाई धर्म को वह बल और ऐश्वर्य प्राप्त हुए हैं। जिनका नीट्त्शे में अभाव था।

कीर्कगार्ड के मन में मुख्य रूप से यह प्रश्न बार-बार उठता था, "ईसाई होने का अर्थ क्या है? किन्तु उसके अभिगम का सामान्य दार्शनिक महत्त्व स्पष्ट है। निरपेक्ष विरोधाभास से तर्कबुद्धि एवं बाह्य ज्ञान की सीमाओं का पता चल जाता है, और यह भिन्न प्रकार से विचार करने की आवश्यकता की ओर संकेत करता है, अर्थात् यह उस विचारण की ओर संकेत करता है जो तार्किक एवं वैज्ञानिक विचारण से भिन्न हो, यह विचार-पद्धति आन्तरिक भाग-ग्रहण पर आधारित हो, जिसका उल्लेख हम प्रथम अध्याय में कर चुके हैं और विस्तार से आगे इसकी चर्चा करेंगे। कीर्कगार्ड इसे "आत्मनिष्ठ विधि" कहता है। वह विरोधाभास और इस विध्रि का, दोनों का नीतिशास्त्र पर भी प्रयोग करता है, और यहाँ दर्शन के साथ इसकी प्रासंगिकता और अधिक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

जब कीर्कगार्ड यह देखता है कि अब्राहम अपने बेटे की बलि चढ़ाने के लिए तैयार है, जो कि अनैतिक है और फिर भी न्यायोचित है तो वह पूछता है: "नैतिकता का कोई प्रयोजनवादी निलम्बन है क्या?[१] उच्चतर उद्देश्य अर्थात् महानतम कार्य के लिए क्या नैतिकता को निलम्बित किया जा सकता है? वह अकारण प्रश्न नहीं करता है; क्योंकि कई वर्षों से नीतिशास्त्र उसका महत्त्वपूर्ण विषय रहा था। किन्तु पाप-संप्रत्यय को प्रस्तुत करते समय जहाँ भी उसे विरोधाभास मिलता है उससे उसे सन्तोषजनक उत्तर पाने में सहायता मिलती है।

नीतिशास्त्र नैतिक मूल्यों और धर्मादेशों का, शुभ और अशुभ का, उचित और अनुचित का विवेचन करता है, पाप का नहीं, अन्तर यह है कि नैतिक मूल्यों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की परिभाषा या तो निरपेक्ष या सापेक्ष नैतिक नियमों से दी जाती है, जबकि पाप अनुभवातीत सत्ता के विरुद्ध एक अपराध है। किन्तु इन दो संप्रत्ययों को—नीतिशास्त्र और पाप को—शायद ही पूर्ण रूप से पृथक् किया जा सकता है; बुरा कार्य पाप है, बुरा कार्य करने वाला पापी। अतः "जो नीतिशास्त्र पाप की अवहेलना करता है, वह पूर्ण रूप से निकम्मा विज्ञान है, किन्तु अगर यह पाप का समर्थन करता है तो यह तथ्यतः अपने से परे है।" इसमें भ्रान्तिपूर्ण अन्तर्विरोध यह भी है कि नैतिक नियम को, जो वास्तविक और विश्वजनीन सिद्धान्त है, उस पाप-संप्रत्यय से उच्चतर होना चाहिये, जो निषेधात्मक एवं वैयक्तिक कार्य है। किन्तु वैयक्तिक अनुभूति इसके विपरीत सिद्ध करती है, क्योंकि पाप से व्यक्ति, विश्वजनीन से पहले ही श्रेष्ठ है, और चूँकि वह अनुभवातीत सत्ता के विरुद्ध कार्य कर रहा है, अतः वह उसके कार्य सम्पर्क में है। परन्तु यह फिर भी मूल रूप में अन्तर्विरोध है, जो उत्तर देता है; "जब व्यक्ति अपने दोष से, विश्वजनीन से बाहर चला गया है तो वह परम सत्ता के साथ परम सम्बन्ध जोड़कर व्यक्ति के रूप में वह लौट सकता है।"[१] परम सत्ता के विरुद्ध अतिक्रमण करके, पापी उस गूढ़ सत्ता तक पहुँच गया है जो उसे बदल सकता है क्योंकि वह क्षमा के स्रोत तक भी पहुँच गया है। ईश्वर नैतिकता को निलम्बित कर सकता है, केवल अब्राहम से माँग करते समय ही नहीं, प्रत्युत उस समय भी जब किसी असत् की अनुभूति यथार्थ रूप से पाप के रूप में हो, क्योंकि इस अनुभूति में पश्चाताप् है और इस प्रकार यह पवित्रिकरण की ओर अग्रसर करता है जो नीतिशास्त्र के परे है।

क्या इससे नीतिशास्त्र का महत्त्व घट नहीं जाता या समाप्त नहीं होता ? कीर्केगार्ड इसे बढ़ाना चाहता है, किन्तु वह हमेशा यह दिखलाता है कि नैतिक माँगें इतनी अधिक हैं कि कोई व्यक्ति इन्हें पूरी नहीं कर सकता, वे केवल हमें इस बात से अवगत कराती हैं कि हम पापी हैं। तब नैतिक नियम या नीतिशास्त्र की उपयोगिता क्या है ? फिर विरोधाभास के वास्तविक निहितार्थ हैं। इससे तीन चीजें प्राप्त हो जाती हैं।

पहला, नीतिशास्त्र आवश्यक समझा जाता है, क्योंकि इसके बिना हमें अपनी स्थिति का पूर्ण बोध नहीं हो सकता, अर्थात् हमें इस बात का बोध नहीं हो सकता कि हम पापी हैं। किन्तु इस बोध की आवश्यकता के कारण, नीतिशास्त्र का केवल यह अर्थ नहीं है कि यह नैतिक नियम पालन करने का आदेश है, यह निजी भाग ग्रहण की माँग करता है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नियमों के लिए ही नैतिक नियमों का पालन कितना खतरनाक है; अनिन्द्य व्यवहार सुयश प्राप्त करने जैसे अस्पष्ट अभिप्रेरकों को आसानी से छिपा सकता है; हमारे सद्‌गुण हमारे पापों का संगम स्थल बन सकते हैं। फ्रांसीसियों की धर्मपरायणता के बावजूद, इस प्रकार की अभिवृत्ति के लिए वे कहावत हो गये हैं। अतः नीतिशास्त्र को समझने के लिए, हमें भीतर से चलना है और "आत्म-निष्ठ विधि" का प्रयोग करना है।

दूसरा, अगर हम ऐसा करते हैं, तो हमें तुरन्त इस बात का पता चल जाता है कि नैतिक नियम निरपेक्ष हैं, सापेक्ष नहीं, क्योंकि इसमें हेर-फेर नहीं किया जा सकता। हम इसका अनादर या अवज्ञा कर सकते हैं किन्तु फिर भी हम जानेंगे कि हमें भिन्न रूप से कार्य करना चाहिये। अगर पाप को अस्वीकार भी किया जाये तो पाप का अनुभव पाप के रूप में होगा। कीर्केगार्ड धर्मादेश का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है "तुम अपनी तरह पड़ौसी से प्रेम करो।" दूसरे व्यक्ति के साथ किसी भी प्रकार के यथार्थ सम्बन्ध से हम अनुभव से यह जान लेते हैं कि हमें इस धर्मादेश के प्रकाश में उसके साथ व्यवहार करना चाहिये, अगर हम ऐसा नहीं भी करना चाहते हों या अपने को असमर्थ पाते हों तो भी। हम निश्चित रूप से यह जानते हैं कि हमारे व्यवहार पर प्रेम का आदेश होना चाहिये, किन्तु हम इस बोध पर कार्य करने से पीछे रह जा सकते हैं—सम्भवतः हम हमेशा रहते हैं।

अतः अन्त में कीर्केगार्ड केवल मनुष्य की आत्मा नहीं, बल्कि अपनी "नैतिक आत्मा" के बारे में बोलने के लिए बाध्य हो जाता है। नैतिकता निरपेक्ष ही हो सकती है, क्योंकि मनुष्य में यह इतनी गहराई में है कि इसे उसकी यथार्थ प्रकृति की विशेषता के रूप में समझना चाहिये। जैसाकि कुछ अस्तित्ववादियों का दावा है कि मनुष्य कोई अपरिभाषित प्राणी नहीं है, जिसे स्वेच्छा से बदला जा सकता है, वह एक नैतिक प्राणी है।

ये नैतिक प्रश्न इतने तात्त्विक हैं कि हम अलग अध्याय में इनका विस्तार से विवेचन करेंगे और साथ ही इनके सम्बन्ध में सम्भव आपत्तियों पर भी विचार करेंगे। किन्तु ये कुछ बातें यह दिखलाने के लिए पर्याप्त होंगी कि कीर्केगार्ड ने नीतिशास्त्र का स्थान घटाने के बजाय इसे सबसे अधिक महत्त्व प्रदान किया है। चूंकि वह नीतिशास्त्र की सीमाओं को देखता है अतः वह इसकी निरपेक्षता दिखलाने में सफल होता है; इस ज्ञान से नीतिशास्त्र के नियम सापेक्ष नहीं हो जाते कि इसका निर्माण धार्मिक आधारशिला पर होता है (जिसका अर्थ यही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होता है कि यह किसी अन्य चीज पर आश्रित है), किन्तु विरोधाभासी रूप से, यह ज्ञान सापेक्षता में इसका अपकर्ष होने से रोकता है। अपने से किसी उच्चतर वस्तु पर, किसी परम सत्ता पर निर्भरता, मनुष्य को स्वतन्त्र कर देती है।

प्राय: विपरीत मत माना जाता है—कि ईश्वर पर निर्भरता से भी नीतिशास्त्र सापेक्ष वन जाता है। यह कीर्केगार्ड का युक्ति देने का तरीका नहीं होगा। स्वतन्त्रता का स्पष्ट रूप से यह अर्थ होता है कि किसी वाहरी तत्त्व के वाध्यकरण के विना, अपनी अन्तरतम प्रकृति के मेल से काम किया जाये और कीर्केगार्ड के अनुसार, मनुष्य की अन्तरतम प्रकृति उसकी नैतिक आत्मा है। अत: ईश्वर जव इस आत्मा से आग्रह करता है तो यह कोई वाह्य वाध्यकरण नहीं है, वल्कि वह उसकी यथार्थ प्रकृति के अनुसार उसे काम करने के लिए समर्थ वनाकर मनुष्य को स्वतन्त्र करता है, और इसका कारण यह भी है कि माँग निरपेक्ष है, यह उसे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कर देता है।*

ये दृढ़ कथन, समस्त धार्मिक निर्देशनों की तरह, विश्वास पर आधारित हैं और ये अप्रत्यायक प्रतीत हो सकते हैं। जैसाकि मैंने कहा है, हम उनके सम्भव खण्डन पर विशेष रूप से ध्यान देते हुए, हम अधिक विस्तार से जाँच करने का प्रयास करेंगे। कीर्केगार्ड उनकी व्याख्या करके उन्हें प्रत्यायक वनाता है, और इस प्रकार नीतिशास्त्र के इस अभिगम तथा अस्तित्ववादी अभिवृत्ति की निरर्थकता सिद्ध करता है। यह वात उसकी कई कृतियों में प्रकट हो जाती है, किन्तु विशेष रूप से उसकी पुस्तक "वर्क्स ऑफ लव" में स्पष्ट होती है, जिसमें वह इस धर्मादेश के एक-एक शब्द का विवेचन करता है—"तुम अपनी तरह पड़ौसी से प्रेम करो।" हम यहाँ इस लम्वी पुस्तक का संक्षेप प्रस्तुत कर सकते हैं, जो सम्भवत: न्याय करना नहीं हो सकता; किन्तु प्रत्येक शब्द की संक्षिप्त व्याख्या से भी विचारों की खान दीखेगी, जो नैतिकता की निरपेक्षता की स्वीकृति से सुलभ हुई है।

तुम—यह धर्मादेश मुझे सम्वोधित कर दिया गया है, किसी और को सम्वोधित करके नहीं। और यह निरुपाधिक है—जिसका अर्थ यह होता है कि यह केवल इसलिये नहीं है कि जहाँ तक सम्भव हो सके वह मुझे अच्छा व्यवहार करने में सहायक हो, प्रत्युत उपाधियों पर ध्यान दिये बिना मुझे आरम्भ करने के लिए कहा जा रहा है। शुभ को यथार्थ वनाने के लिए आरम्भ करना। यह स्वाभाविक है कि मैं यह सोचने के लिए वाध्य हो जाऊँगा कि मैं महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नहीं हूँ मेरा कोई प्रभाव नहीं है, मैं सुबुद्धि से काम करने के सिवा और अधिक

* युक्ति की यह प्रणाली दूसरे अध्याय में निष्कर्षों का आधार भी वनती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कुछ कर भी नहीं सकता और वह भी सीमा के भीतर ही। अधिक महान्, अधिक शक्तिशाली मनुष्यों को आरम्भ करने दिया जाये, जो सरकार और विशाल संगठनों के लिए उत्तरदायी हैं, मैं केवल प्रतीक्षा कर सकता हूँ और देख सकता हूँ कि अन्य लोग क्या कर रहे हैं और सम्भवतः उनका समर्थन भी कर सकता हूँ। किन्तु कीर्केगार्ड इस बात पर बल देता है कि यह आरम्भ करने की मेरी बारी है और इस आरम्भ का महत्त्व है, सबसे अधिक व्यापक सन्दर्भ में भी। यह अवास्तविक, अतः असम्भव लग सकता है—किन्तु क्या यह अवास्तविक है ?

प्राकृतिक विज्ञान के प्रभाव में हम यह विश्वास करने लगे हैं कि किसी कार्य का सम्बन्ध इसके कारण से आसानी से जोड़ा जा सकता है। हो सकता है कि आधुनिक भौतिकी में अब इसका प्रयोग न हो, किन्तु फिर भी हाल के इन विकासों का हमारी विचार प्रणाली पर शायद ही प्रभाव पड़ा है। जो भी हो, यह निश्चय रूप से सत्य नहीं है कि मानवीय क्रिया-कलापों में कार्य और कारण के सम्बन्ध का आसानी से पता लगाया जा सकता है। हम कुछ उदाहरणों पर विचार करें जो कीर्केगार्ड की दृढ़ धारणा का समर्थन करते हैं। ईसामसीह के समय के किसी ऐसे रोमन की कल्पना कीजिये जो यह कहता हो कि साम्राज्य के किसी दूर कोने में पड़ा थोड़े अनुयायियों के साथ रब्बी, साम्राज्य के प्रचलित धर्म के लिए, उन सभी व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक खतरा है, जो ऊँचे पद पर हैं तो सारा रोम उसकी बातों पर हँसेगा। फिर भी ठीक यही बात थी, जो सत्य सिद्ध हुई और अपेक्षाकृत कम समय में या १८६० के किसी ऐसे लण्दन-वासी की कल्पना कीजिये जो यह कहता हो कि इन विचित्र विदेशी शरणार्थियों में एक, जिसका नाम कार्ल मार्क्स है और जो काफी गरीबी में और लगभग अकेला रह रहा है, पुस्तक लिख रहा है जो कुछ ही दशकों में संसार को बदल देगा—थोड़े से समाजवादियों के सिवा और कोई उसकी बातों पर विश्वास नहीं करता। या इस उदाहरण को लें। राष्ट्रीय समाजवादी दल की स्थापना करने के लिए, १९२१ में, म्यूनिच के एक सुरागार में सात सनकी मिले : कौन यह विश्वास कर सकता है कि उस बैठक में सबसे शक्तिशाली राजनीतिक दल का जन्म हो रहा था, जिसके बारे में जर्मनी अभी तक अनभिज्ञ था ? अच्छा हो या बुरा, मानवीय इतिहास में रहस्यात्मक तथा अप्रत्याशित कार्य हुए हैं, जिनके कारण ऐसे अशक्त व्यक्ति रहे हैं, जिनके कार्यों ने नये विकास प्रारम्भ किये हैं; परन्तु वे इसी कारण से सफल हो सके हैं कि समान रूप से ऐसे अशक्त व्यक्तियों के छोटे दल हैं जो किसी नयी चीज के लिए तैयार हैं। व्यक्ति ही महत्त्व रखता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दूसरे शब्दों में, हमें ऐसे काम करने के लिए तैयार रहना चाहिये, जिन्हें हम उचित समझते हैं, जब एक बार हमें यह विश्वास हो जाता है कि उन्हें करना चाहिये, बिना यह सोचे विचारे कि वे सफल होंगे या नहीं, क्योंकि व्यापक सन्दर्भ में, इनका पूर्वज्ञान नहीं होता। निरुपाधिक रूप से धर्मादेश का पालन करना ही अधिक ठीक होगा, वांछित फल की सम्भाव्यता या असम्भाव्यता के बारे में सोचना ठीक नहीं होगा। उदाहरण के लिए, जटिल परिस्थितियों में, उचित और अनुचित के सम्बन्ध में हमारी दृढ़ धारणाओं से ही मार्गदर्शन मिलेगा, जैसेकि परमाणु अस्त्रों के रखने की बात है, जिसके सम्बन्ध में दोनों ओर से दी जाने वाली युक्तियाँ अनिर्णायक हैं।

हमारे अनुभव से यह सिद्ध हो जायेगा कि कीर्केगार्ड का अभिगम न्यायोचित है। आरम्भ करने के लिए दूसरों की प्रतीक्षा करना शक्तिहीनता है; किसी काम में प्रयास करने से ही हमारी सम्भाव्यताएँ विकसित होती हैं। इस प्रयास में ही हम वास्तविक होते हैं।

तुम करो—यह धर्मादेश हमारी प्रवृत्तियों के प्रति निवेदन नहीं हैं; हमसे कर्त्तव्य करने के लिए कहा जाता है। किन्तु फिर भी यह एक विरोधाभास नहीं है? अगर प्रेम को निष्कलुष होना है तो इसे स्वतः प्रवर्तित होना चाहिये; प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि अगर हम जिसे नापसन्द करते हैं, उससे हम अपने को प्रेम करने के लिए बाध्य करने का प्रयास करें तो इसके सन्दिग्ध परिणाम निकल सकते हैं। फिर भी किसी पड़ोसी से प्रेम करना एक धर्मादेश है।

इस तथ्य में कि प्रेम को कर्त्तव्य बनाया जा सकता है, कीर्केगार्ड हमारे अस्तित्व में अनुभवातीत सत्ता का प्रवेश देखता है। हम सभी निस्सन्देह रूप से प्रेम करने में समर्थ हैं। कोई छुटकारा नहीं है : "प्रेम कला की तरह नहीं है .. जो ऐसे कुछ व्यक्ति के लिए है" जो इसमें निपुण हैं; प्रत्येक व्यक्ति को प्रेम मिला जो करना चाहता है।[1] यह धर्म में पहले ही से है; इसमें किसी विशेष प्रतिभा की आवश्यकता नहीं है, यह महान प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, यह प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच में है। प्रेम बाह्य परिस्थितियों से स्वतन्त्र भी हैं * अगर कोई मेरा हाथ काट लेता है तो मैं सितार नहीं बजा सकता,

*कीर्केगार्ड इस बात पर बल देता है कि प्रतिभा कोई धार्मिक शब्द नहीं है, क्योंकि यह कुछ ही लोगों तक सीमित है, और महान् धर्मों के संस्थापक भी प्रतिभाशाली नहीं कहला सकते क्योंकि उनकी उपलब्धियाँ उन बातों पर आधारित हैं जो मानवता में सामान्य हैं।

[1] पृ० ६३ और अध्याय ४ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

और अगर कोई मेरा पैर काट लेता है तो मैं नाच नहीं सकता अगर में स्वयं टूटा हाथ या पैर लेकर पड़ा रहूँ तो मैं किसी को आग की लपट से जान बचाने के लिए दौड़ नहीं सकता; किन्तु मुझमें सहानुभूति हो सकती है।[1] फिर भी इस धर्मादेश में और बातों की पूर्व कल्पना की गयी है; इसके अधीन भाव है जिसे स्वतः प्रवर्तित होना चाहिये। अतः हमसे महान् प्रेम ही जो हमारे भीतर जागता है, इस धर्मादेश को अर्थ प्रदान कर सकता है: "पार्थिव प्रेम और मित्रता में पक्षपात मध्यवर्ती शब्द है। पड़ौसी से प्रेम करने में ईश्वर मध्यवर्ती शब्द है; अगर सबके ऊपर तुम ईश्वर से प्रेम करते हो तो तुम अपने पड़ौसी और अपने पड़ौस के प्रत्येक व्यक्ति से प्रेम करते हो।"[2]

तब क्या एक वार फिर उन धार्मिक कथनों में से एक हमारे सामने आ जाता है जो धर्मविश्वास की क्रिया से ही स्वीकार्य होता है? सम्पूर्ण रूप से नहीं, क्योंकि इस धर्मादेश के विशेष महत्त्व से ही मानवीय अनुभूति के सम्बन्ध में यह धार्मिक कथन सुलभ होता है। क्योंकि जब हम बिना किसी शर्त के किसी दूसरे व्यक्ति से मिलते हैं और अगर हम अपनी प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण करते हैं तब हम निश्चित रूप से यह जानते हैं जैसाकि हमने पहले इसका उल्लेख किया है, कि यह धर्मादेश तर्कसंगत है। अक्सर नैतिकता को धर्म का वह पक्ष कहा जाता है जिसके सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया जा सके। कीर्केगार्ड तर्क और तर्कबुद्धि से हमें वास्तविक रूप से यह अवगत कराता है कि हम दो विश्व के नागरिक हैं—मानवीय विश्व और दैविक विश्व। यह और भी स्पष्ट हो जाता है जब वह उस मानवीय ज्ञान के अंग के रूप में "पड़ौसी" शब्द की व्याख्या करता है जो देवत्त्व की ओर अभिमुख है।

प्रेम—कीर्केगार्ड यह दिखलाता है कि यह धर्मादेश भाव की ओर संकेत करता है, अमूर्त ज्ञान की ओर नहीं। वह पास्कल के दृढ़ कथन की व्याख्या करता है: "ईश्वर का ज्ञान उसके प्रेम से बहुत भिन्न है।" पास्कल की तरह वह "हृदय के विवेक" पर बल देता है।[3] किन्तु चूंकि यह एक भाव है, अतः इसकी परिभाषा सावधानी से देनी है; यह कोई ऐसा सम्वेग नहीं है, चाहे यह कम या तीव्र हो, जिसकी अनुभूति विशेष अवसर पर हो जैसे अनुरक्त हो जाना; इसे उचित प्रकार से स्थायी होना चाहिये, यह भावप्रवण हो पर फिर भी नियन्त्रित हो।

जब हम अधिक मूल भावनाओं का विवेचन करने का प्रयास करते हैं, विशेष रूप से जब हम "प्रेम" शब्द को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं तब हमारी भाषा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अपने को सक्षम नहीं पाती। कम से कम कुछ मौलिक भेद स्थापित करने के प्रयास किये गये हैं, अगर "दान" शब्द का इस हद तक अर्थ नहीं बदल जाता तो ये दो सम्प्रत्यय "प्रेम" और "दान" सहायक हो सकते। कुछ लेखकों ने यूनानी शब्द "एगेप" की शरण ली है, किन्तु इस शब्द की जड़ नहीं जमी है। फिर भी अगर पुरुष नारी के प्रेम और ईश्वर के प्रेम तथा पड़ौसी के प्रेम में अन्तर बतलाने वाले दो उपयुक्त शब्द होते भी तो प्रत्येक शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार के भावों के लिए होता जैसे—(कुछ उदाहरण देखें) अनुरक्त हो जाना, पति-पत्नि, का प्रेम, माँ-बाप और बच्चे का प्रेम, मित्रों का प्रेम, ईश्वर का प्रेम, मानवजाति का प्रेम, पड़ौसी के रूप में एक व्यक्ति का प्रेम, शत्रु का प्रेम, प्रेम के और प्रकारों को तो छोड़ दें, जैसे—देश-प्रेम, सौन्दर्य-प्रेम, किसी भी कृति से प्रेम।[1] अतः यह विशेष महत्त्व की बात है कि कीर्केगार्ड का, पड़ौसी प्रेम का अर्थ स्पष्ट करने में इन अनेक भेदों से सफलता मिली।

इन भेदों का महत्त्व विस्तृत वर्णन पर इतना निर्भर करता है कि उन्हें संक्षेप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। "तुम करो" के विवेचन में जिन कुछ उद्धरणों का प्रयोग किया गया है, उनसे स्पष्टीकरण की दिशा कुछ मालूम हुई होती। इस पर और अधिक प्रकाश डालने के लिए दोस्तोविस्की की एक विनोदपूर्ण उक्ति सरल उपाय के रूप में सहायक होगी। अपने एक पत्र में वह कहता है कि सम्पूर्ण मानव जाति से प्रेम करना आसान है किन्तु इस बात की आवश्यकता नहीं है? किसी को किसी ऐसे अजनबी के साथ किसी छोटे कमरे में रहने के लिए बाध्य करना, जिसके सामने कोई ठहर नहीं सकता, कष्ट का अनुभव करता हो और फिर भी उससे प्रेम करने के लिए कहा जाये—यही महत्त्वपूर्ण बात है। या, दोस्तोविस्की यह भी कहता है : कभी-कभी प्रत्येक व्यक्ति प्रेम कर सकता है; दुष्ट भी कर सकता है.....कार्यरूप में प्रेम करना स्वप्न में प्रेम करने की अपेक्षा कठोर और भयानक है...कष्टदायक और धैर्य की बात है।"[2] प्रेम का यह वर्णन सचमुच में अप्रिय लगे, किन्तु कीर्केगार्ड और दोस्तोविस्की दोनों किसी ऐसे प्रेम को समझाने में सफल होते हैं जो हमारी प्रवृत्ति से परे है और अपनी तीव्रता से वेदना की ओर अग्रसर करता है। तुम्हारा पड़ौसी—फिर कीर्केगार्ड का यह दृढ़ कथन कठोर मालूम देता है। "अगर तुम अपने पड़ौसी को काफी निकट से नहीं समझते जैसा कि...निरुपाधिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को देखते हो तो तुम उसे देखते ही नहीं...मैं ईश्वर से प्रेम करता हूँ। जितना मैं पड़ौसी से प्रेम करता हूँ, और मैं अपनी प्राकृतिक प्रवृत्ति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से शायद ही उस ओर आकर्षित होता।" किन्तु यहाँ समानता पर बल दिया गया है। "तुम्हारा पड़ौसी तुम्हारे समान है....क्योंकि ईश्वर के समक्ष तुम्हारे पड़ौसी के साथ तुम्हारी मानवीय समानता है...प्रत्येक व्यक्ति में यह निरुपाधिक रूप से समानता है और निरुपाधिक रूप से है।"[1] परन्तु यही समानता प्रतीयमान कठोरता को महान मानवीय हार्दिकता प्रदान करती है।

मुझे इस समय कीर्केगार्ड के राजनीतिक विचारों से एक उदाहरण प्रस्तुत करने दिया जाये। १८४८ की क्रान्ति से निराश होकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह अतिवादी रुढ़िवादी रवैये की ओर आकर्षित हुआ, और वह जो कहता है वह एक वार फिर अव्यवहार्य और अवास्तविक लगे; किन्तु धीरे-धीरे हम महसूस करते हैं कि यही वास्तविक रूप से एक तरीका है जो अनुभव के साथ पूर्ण न्याय कर सकता है। यह एक ऐसा तरीका है जो ईसाई धर्म को वास्तविक जीवन प्रदान करता है, हालाँकि इससे यह बहुत कठिन काम बन जाता है।

प्रारम्भ में यह फ्रांस की क्रान्ति के आदर्शों—स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व को ग्रहण करता है। प्रारम्भ में इन आदर्शों का उद्देश्य भेद दूर करना था। किन्तु क्या भेद दूर किये जा सकते हैं? "शायद ही ईसाई भौतिक शरीर के बिना रहता है या रह सकता है, और उसी प्रकार वह शायद ही उस पार्थिव जीवन के भेदों के बाहर रह सकता है, जिसका प्रत्येक व्यक्ति, जन्म से, अवस्था से, परिस्थिति से, शिक्षा से है....जब तक वह इस क्षणभंगुर पार्थिव शरीर को धारण किये है ये भेद रहेंगे ही और जो व्यक्ति इस संसार में आता है उसे ये प्रलोभन देते रहेंगे"[2] और स्वतन्त्रता से इनमें वृद्धि करनी चाहिये। अतः जैसा कि कीर्केगार्ड को अपने अनुभव से ज्ञान हुआ कि उनकी सभी क्रान्तियों से समानता नष्ट हुई जिनका उद्देश्य स्वतन्त्रता था, जबकि समानता के लिए संघर्ष करने से, जैसाकि उसने अनुमान लगाया (और जैसाकि हम अपने अनुभव से जानते हैं) स्वतन्त्रता नष्ट होगी। अतः सही आरम्भ बिन्दु भ्रातृत्व होगा—अर्थात् पड़ौसी से प्रेम करना। किन्तु क्या यह सम्भव है? कीर्केगार्ड एक स्थिति बतलाता है, जिससे यह सम्भव होगा अपनी आत्मा पर एकाग्र करना।

ईसाई धर्म ने इन भेदों को समाप्त करना नहीं चाहा है, वह यह चाहता है कि व्यक्ति के सामने ये भेद मुक्त रूप से उसी प्रकार रहें, जैसेकि राजा अपने को प्रकट करने के लिए लबादा उतारता है, जैसेकि फटा-पुराना लबादा है जिसमें अलौकिक सत्ता अपने में छिपाये है। जब मुक्त रूप से यह भेद रहता है तब

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रत्येक व्यक्ति में दूसरे का तत्त्व झलकता है, जो सबमें समान है, जो शाश्वत समरूपता है, समानता है।

यहाँ हम कीर्केगार्ड की नम्रता और सहानुभूति का अनुभव करते हैं और उस लबादे का रूपक, जिसे राजा उतारता है और इस फटे–पुराने लबादे का रूपक जिसमें ईसामसीह अपने को छिपाता है, बहुत सुन्दर ही नहीं है, बल्कि प्रासंगिक हैं—हम अन्तर्दृष्टि से उचित विचार देखते हैं। सभी मनुष्यों की मूल समानता "पड़ौसी" शब्द की व्याख्या करता है; क्योंकि इसके कारण ही प्रेम पर अधिकार हो सकता हैं, इसे स्वीकार करके ही हम धर्मादेश का पालन कर सकते हैं। परन्तु कीर्केगार्ड इस बात का भी सुनिश्चय करता है कि यह विचार नीतिशास्त्र को शामिल करके भावुक नहीं बनाया जाता। वह आगे कहता है। ईसाई धर्म ने वाह्य अर्थ में संसार में कभी किसी ऐसे स्थान की खोज नहीं की है जिसका यह अंग न हो, फिर भी यह प्रत्येक वस्तु में अत्यधिक परिवर्तन लाया है...यह मनुष्य मनुष्य के बीच प्रत्येक सम्बन्ध को अन्तःकरण-सम्बन्ध में बदलता है।" यह हमें मानवीय आधार पर दृढ़ता से रखता है। परन्तु चूंकि यह समानता बाहर से नहीं देखी जा सकती, क्योंकि वाहर से हम केवल भेद ही देखते हैं, हमें इसे पहचानने के लिए आत्मनिष्ठ होना होगा। इन सम्बन्धों को भीतर से देखने के लिए, हमें "आन्तरिकता" के बारे में जानने की आवश्यकता है।

अपनी तरह—चूंकि हम इस मूल समानता में स्वयं भाग लेते हैं अतः मनुष्य के अपने प्रति जो कर्त्तव्य हैं, वही पड़ौसी के प्रति हैं; किन्तु इसे विकृत होने से बचाना है; इसे न तो आत्मग्रस्तता का रूप लेना चाहिये न स्वार्थपरायणता का। यह प्राप्त हो जाती है क्योंकि यह धर्मादेश अन्योन्य है। अगर मैं अपने पड़ौसी के रूप में अपने से प्रेम करूँ तो मैं अपने में उसी मानवता के प्रति आदर रखूंगा—अगर में अपनी तरह दूसरे से प्रेम करूँ तो मेरे लिए अवैयक्तिक या अनासक्त होना असम्भव है। हम उचित प्रकार की आत्मनिष्ठता की ओर अग्रसर होते हैं, जिसे कीर्केगार्ड आत्मनिष्ठा विधि की व्याख्या करके स्पष्ट करता है। यह दर्शन को उसकी प्रत्यक्ष देन है, और इस ओर ही हमें मुड़ना चाहिये।

किन्तु पहले, हमें इस सम्बन्ध में उचित रूप से निर्णय करने में समर्थ होने के लिए नैतिकता का निरपेक्षता के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से विवेचन करना चाहिये, जिसे हमने इस अध्याय में मान लिया है।

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पाँच

नैतिकता–सापेक्ष या निरपेक्ष

इस पुस्तक में, "नैतिकता" शब्द का प्रयोग सामान्य या बोलचाल के अर्थ में नहीं किया गया है, जो किसी रिवाज की ओर संकेत करता हो, बल्कि मौलिक अर्थ में किया गया है। इसकी परिभाषा इस रूप में दी जा सकती है कि यह व्यवहार का आदर्श है जो शुभत्व के निरपेक्ष मूल्य पर आधारित है। परन्तु इस परिभाषा से हमारे सामने तुरन्त एक समस्या आ खड़ी होती है जिसकी अभी मैं चर्चा करना चाहूँगा—क्या सचमुच में कोई ऐसी नैतिकता है जिसके सम्बन्ध में निरपेक्ष रूप से विचार किया जा सकता हो ? अगर कोई है तो इसका अर्थ यह होगा कि एक प्रकार की नैतिकता है जो केवल सामाजिक, मनोवैज्ञानिक या अन्य कारकों का परिणाम नहीं है, प्रत्युत् जो स्वतन्त्र है, चरम तथ्य है, किसी निरपेक्ष मूल्य का मूर्त रूप है—अर्थात् किसी आन्तरिक मूल्य का मूर्त रूप है, जिसे मूल रूप में स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि यह किसी अन्य, आधारभूत सिद्धान्त से प्राप्त नहीं किया जा सकता। क्या सचमुच में हम इस बात को मान सकते हैं कि इस प्रकार की नैतिकता का अस्तित्व है ?

यह प्रश्न पूछने पर दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है, जिसका उत्तर पहले देना चाहिये। किस प्रकार से निरपेक्षता के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सम्भव है ? यहाँ हम दृढ़ विश्वासों और निर्णयों के क्षेत्र में बढ़ रहे हैं जहाँ भौतिक या वैज्ञानिक प्रमाण लागू नहीं होते। हमें आन्तरिक अनुभूति पर विश्वास रखना है; फिर भी अनेक लोगों का—सम्भवतः अधिकांश लोगों का—यह विश्वास है कि नैतिकता निरपेक्ष नहीं है, वल्कि विभिन्न एवं परवर्ती परम्पराओं के प्रभाव में निरन्तर इसमें परिवर्तन हो रहा है। निश्चय ही निरपेक्ष प्रमाणों के अभाव से सामाजिक ढांचे की जड़ खोदी जा रही है, किन्तु उन्हें वास्तविक वनाने के लिए यह कोई पर्याप्त कारण नहीं है कि ये प्रमाण अभीष्ट प्रतीत होते हैं। हम उन्हें तभी स्वीकार कर सकते हैं जब हम पूर्ण रूप से इस बात से आश्वस्त हो जायें कि वास्तविक रूप से उनका अस्तित्व है। परन्तु चूंकि "निरपेक्ष" शब्द किसी और चीज से उत्पन्न नहीं हुआ है, वह चरम है, प्रमाण से परे है, अतः यह प्रतीत होता है कि आगे इसका विवेचन करना असम्भव है।

फिर भी, दो तरीके हैं, जिनसे लाभदायक विवेचन किया जा सकता है। पहला तरीका तो यह है कि निरपेक्ष नैतिकता का अर्थ वतलाया जाये और यह विश्वास किया जाये कि अगर यह मान्यता सही होगी तो प्रत्येक व्यक्ति की अनुभूति में इससे एक प्रकार की प्रतिक्रिया उत्पन्न होगी, जिससे इसका अस्तित्व प्रमाणित होगा। हमने पिछले अध्याय में इस विधि का प्रयोग किया है। दूसरा तरीका यह है कि हम उन सिद्धान्तों की छानवीन कर सकते हैं—या उनमें से कम-से-कम सवसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की छानवीन कर सकते हैं—जो नैतिकता की निरपेक्षता को अस्वीकार करते हैं और आधारभूत कारकों की निर्मित वस्तु के रूप में इसे सापेक्ष मानते हैं, जिससे इस वात का पता चल जाये कि क्या इस प्रकार के सिद्धान्तों को सम्पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है या उनमें त्रुटियाँ हैं ? परन्तु अगर हम त्रुटियाँ पाते हैं तो हम यह देखने का प्रयास भी कर सकते हैं कि इस प्रकार की व्याख्या में जिन तत्त्वों का अभाव है उसका कारण यह दावा तो नहीं है कि निरपेक्ष नैतिकता है। यही कार्यप्रणाली है जिसका मैं इस अध्याय में मैं अनुसरण करना चाहूँगा।

इस उद्देश्य के लिए, हमें "नैतिकता" शब्द का और भी गुण प्रस्तुत करना है। इसे इस रूप में नहीं समझना चाहिये कि यह प्रत्येक अवसर के लिए नियमों की स्थापना करता है, जो इन अवसरों के अनुकूल वनने की माँग करे और इस प्रकार इसे सापेक्ष वनाये, प्रत्युत् इसे मूल नियम के रूप में समझना चाहिये जिसे अस्वीकार करने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं, अतः जो विभिन्न परि-स्थितियों में हमारा मार्ग प्रदर्शन कर सकता है। इस प्रकार हमें उसी रूप में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नैतिक नियम और इसके विनियोग के बीच भेद करना चाहिये; यह दावा कि नैतिकता सापेक्ष है, अक्सर इन दोनों की भ्रान्ति पर आधारित है। उदाहरण के लिए इस प्रकार के किसी भी विवेचन में निरपवाद रूप से यह आपत्ति उठायी जाती है कि ईसाई धर्म में केवल एक पत्नी रखने की अनुमति दी गयी है, जबकि मुस्लिम धर्म में चार की, जिससे यह बात सिद्ध होती है कि नैतिकता परिपाटियों पर निर्भर करती है। परन्तु पत्नियों की संख्या का प्रश्न इस अर्थ में नैतिकता का प्रश्न नहीं है, जिस अर्थ में हम इस शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं; नैतिकता के क्षेत्र में हम तब प्रवेश करते हैं, जब हम यह पूछते हैं कि पति अपनी पत्नी या पत्नियों के साथ व्यवहार किस प्रकार करता है ? हमारा सम्बन्ध न तो आचार के विनियोग से है, जो स्वाभाविक रूप से बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है, न अपनी दृढ़ धारणाओं के अनुसार रहने में मनुष्यों की असफलता से है, बल्कि हमारा सम्बन्ध स्वयं नैतिकता से है।

इस आधारभूत नैतिकता के विवेचन को सम्भव बनाने के लिए, अस्तित्ववाद के मुख्य सिद्धान्त को लागू करना है अर्थात् प्रमाण के रूप में अनुभव को स्वीकार करना है। जहाँ तक ईमानदारी से सम्भव हो सकता है, हमें अपनी नैतिकता के प्रकाश में नैतिकता के सम्बन्ध में कहे गये किसी भी दृढ़ कथन का परीक्षण करना है। अन्त में, इस प्रकार के परीक्षण को आत्मनिष्ठ रहना चाहिये—अर्थात् इसे अपने व्यक्तित्व की विशेषता से प्रभावित होना चाहिये। किन्तु कुछ बातें हैं जिन्हें हम अपने ध्यान में रख सकते हैं, और उनके द्वारा इस बात का सुनिश्चय कर सकते हैं कि हम अपनी वैयक्तिक प्रवृत्तियों या पूर्वग्रहों से अत्यधिक प्रभावित नहीं हैं—और इन बातों से हमें "आत्मनिष्ठ विधि" का विकास करने में सहायता मिलती है और इस प्रकार यह हमारे व्यक्तित्व के उन पक्षों को उद्घाटित करता है, जो मानवता की आधारभूत विशेषताओं के रूप में सभी मनुष्यों में हैं।

१. जब नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं तो हमें यह प्रश्न करना चाहिये : "क्या इन सिद्धान्तों में मैं अपने को वास्तव में पहचानता हूँ ?" इस प्रकार के सभी सिद्धान्तों का यह दावा है कि ये तथ्यों का विवेचन करते हैं और यह समझा जाता है कि मैं इन तथ्यों का अनुभव करता हूँ; अपनी वास्तविक अनुभूति का विचार करने से मुझे उन अमूर्त परिकल्पनाओं से बचने में सहायता मिलेगी जो मेरे विचारों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे मेरी और आगे की अनुभूति पर भी प्रभाव डालती हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हमने इस बात का उल्लेख किया कि मनुष्य अपने सम्बन्ध में किये गये विचारों से कितना प्रभावित होता है;* अतः यह प्रश्न पूछना अनिवार्य है।

यह प्रश्न न्यायसंगत है। यह उस समय देखा जा सकता है जब हम धर्म का विवेचन करने की सम्भावना के साथ नैतिकता के विवेचन करने की सम्भावना की तुलना करते हैं। नैतिकता जैसाकि हमने कहा है, अक्सर धर्म का वह पक्ष समझा जाता है जिसके सम्बन्ध में विवेचन† हो सके जिसका अर्थ यह होता है कि धर्म का उल्लेख किये बिना इस पर विचार किया जा सकता है। जब मैं किसी नैतिक धर्मादेश को शुद्ध रूप से अभिव्यक्त करता हूँ—जैसे "तुम अपनी तरह अपने पड़ौसी से प्रेम करो"—तब मैं यह आशा कर सकता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तरतम में, उत्तर में यह कहेगा और महसूस करेगा कि यह धर्मादेश मान्य है, चाहे वह इसे नापसन्द ही क्यों न करे या इसे अस्वीकार करता ही प्रतीत क्यों न हो। धार्मिक कथनों के सम्बन्ध में इस प्रकार के सामान्य प्रत्युत्तर की आशा नहीं की जा सकती; क्योंकि विश्वास में विश्वास करने की आवश्यकता होती है, चाहे यह दावा कि ईश्वर का अस्तित्व है, इस कार्य के बिना निरर्थक ही क्यों न हो। नैतिकता और धर्म के बीच सम्भवतः यही अन्तर इस बात की व्याख्या करता है कि महान धर्मों—यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, कनफ्यूशी धर्म, ताओ धर्म—की नैतिकता माँगें इतनी समान क्यों हैं जबकि स्वयं इन धर्मों में इतना भेद है। नैतिकता और धर्म दोनों भौतिक प्रमाणों के धर्म से परे हैं, किन्तु नैतिकता के कारण ही मुझे यह मानने का अधिकार है कि मेरी अपनी अनुभूतियाँ, प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होती हैं, अगर उचित रूप से इन्हें प्रतिपादित किया जाये और इनका परीक्षण किया जाये, अर्थात् वे सामान्य रूप से प्रामाणिक होने का ज्ञान देती हैं। धर्म का विवेचन, थोड़ा कम प्रत्यक्ष रूप से करना होगा; नैतिकता के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से प्रश्न करने की आवश्यकता है।

२. काण्ट के निष्काम नियोग की अन्तिम व्याख्या—"इस प्रकार कार्य करो कि तुम अपने लिए और अन्य व्यक्ति के लिए मानवता का प्रयोग हमेशा साध्य के रूप में करो, साधन के रूप में ही कभी नहीं,"[१]—हमें दूसरा परीक्षण देती है। हमारे जटिल समाज में, इस परीक्षण का विशेष महत्त्व है, जहाँ अक्सर यह अनिवार्य हो जाता है कि—कुछ सन्दर्भों में रखकर मनुष्यों के साथ यूनिट और साधन के रूप में व्यवहार किया जाये—उदाहरण के लिए, जनगणना के सन्दर्भ

---

* देखिये पृष्ठ—२३

† देखिये पृष्ठ—६६-६७

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

में यह माल के उत्पादक के रूप में। परन्तु यह प्रायः किया जाता है और यह साधारण बात है, चाहे मनुष्य की मानवता की उपेक्षा की जाय या नहीं (फिर भी, आसानी से इसका वहिष्कार नहीं किया जा सकता); अतः हमें इस वात का हमेशा स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य को साधन के रूप में ही समझना मूलतः गलत है। इससे हमें यह पहचानने में ही सहायता नहीं मिलेगी कि हम कहाँ गलती करते हैं बल्कि यह जानने में भी हमें सहायता मिलेगी कि कहाँ अन्य लोग और सिद्धान्त नैतिकता के सम्बन्ध में गलती करते हैं ?

इस नियोग का यह भी अर्थ है कि यह तत्त्वोक्ति, "साध्य साधन को न्यायोचित सिद्ध करता है", बुनियादी रूप से अनैतिक है। इसके अतिरिक्त इसके अनुसार हम कार्य करने से पूर्णतया वच भी नहीं सकते; कभी-कभी जब हम इस प्रकार झूठ वोलते हैं, कि उससे दुःख न हो तो इससे शुभ कार्य भी हो सकता है। फिर भी, विशुद्ध रूप से नैतिक दृष्टिकोण से, सबसे उदात्त साध्य भी अशुभ साधन को न्यायोचित सिद्ध नहीं कर सकता; अशुभ अशुभ ही रहता है, चाहे इसका उद्देश्य कुछ भी हो। अगर हम अनुभव से परामर्श लें तो हम व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह देख सकते हैं कि ऐसा क्यों होता है। साधन वे ही हैं जिनका वास्तविक रूप से हम अनुभव करते हैं, अतः वे हमें रूप प्रदान करते हैं; साध्य बहुत दूर है और हो सकता है कि वहाँ तक हम कभी नहीं पहुँचें, इसलिये यह हमारे कार्यों के लिए नगण्य रह सकता है। इस प्रकार साधन साध्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगा; अगर वे बुरे हैं तो सबसे अच्छे साध्यों को भी वे खराब कर देंगे। मानवीय अपूर्णता हमें इस वात के लिए वाध्य कर सकती है कि हम दो अशुभ बातों में कम अशुभ वात को चुनें, किन्तु अगर हम इस तथ्य से अवगत रहते हैं कि वे अशुभ हैं तो क्या हम नैतिकता को पुनः प्रतिष्ठित करने की आशा कर सकते हैं ?

३. "शुभ" और "उचित" का भेद स्पष्ट करने से और सहायता मिलेगी और अन्तिम बात और भी स्पष्ट होगी। यह भेद आखिरी तौर पर स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों सम्प्रत्ययों की परिभाषा विशेष स्थितियों में ही दी जा सकती है, सामान्य रूप से नहीं। फिर भी विशेष स्थितियों में उनका भेद स्पष्ट है। किसी बच्चे को दण्ड देना उचित हो सकता है; किन्तु क्या यह शुभ भी है ? कई लोग कहते हैं कि हत्यारे को फाँसी पर लटकाना उचित है, किन्तु कुछ ही लोग इस बात का दावा करेंगे कि फाँसी लटकाने का कार्य स्वयं में शुभ है। दूसरी ओर, किसी को दुःख देने के वदले झूठ बोलना शुभ हो सकता है, जैसाकि अभी हमने कहा है, किन्तु यह सम्पूर्ण रूप से उचित नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

क्या शुभ है और क्या उचित है, इनके बीच के तनाव से अभिज्ञ होने से हमारी सम्वेदनशीलता बढ़ेगी और हमारी अभिज्ञता तीव्र होगी, और मूल्यों के क्षेत्र में इसका काफी महत्त्व है। वहाँ हम स्पष्ट नियम और परिभाषा नहीं पाते जो प्रत्येक अवसर पर लागू हो सके, हम देखेंगे कि उदाहरण के लिए, किसी के परिवार की माँगों और देश के प्रति किसी के कर्त्तव्य के बीच की द्वन्द्वात्मक निष्ठा का भी परिहार नहीं किया जा सकता। किन्तु मुझे अपने निष्कर्षों पर पहुँचना है और अपने से निर्णय करने हैं; मैं नैतिक रूप से तभी कार्य करता हूँ जब वह शुभ होता है क्योंकि मैं इसे शुभ समझता हूँ। अतः मुझे मूल्यों के प्रति अपने सम्वेदन का विकास करना है, और सभी स्पष्टतर विभेदीकरण इस उद्देश्य की पूर्ति में योग देंगे। यह परिभाषा नहीं है जो महत्त्व रखती है, बल्कि विशेष स्थिति में मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया का स्पष्टीकरण महत्त्व रखता है।

अगर हम निरपेक्ष नैतिकता को स्वीकार करते हैं तो हमें उस चीज का बोध होना चाहिये जिसे हम अस्वीकार कर रहे हैं। संकल्प स्वातन्त्र्य-वरण, निर्णय, क्रिया स्वातन्त्र्य से यह पृथक् नहीं किया जा सकता, और दूसरों के विषय में सन्देह प्रकट किये बिना हम किसी एक को अस्वीकार नहीं कर सकते। परन्तु अगर हम निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र नहीं हैं तो हम उत्तरदायी नहीं हैं—अर्थात् उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है और अन्तःकरण का महत्त्व लुप्त हो जाता है। अतः मनुष्यों के बीच विश्वास का आधार नष्ट हो जाता है। "शुभ" और "अशुभ" सम्प्रत्यय अपना पूर्ण अर्थ खो बैठते हैं; क्योंकि अब वे कार्यों का निर्धारण नहीं करते, वे वस्तुतः सौन्दर्यात्मक-कल्प-पद हो जाते हैं—अर्थात् नैतिकता की चर्चा के स्थान पर अधिमानों, वरण के यादृच्छिक आदर्शों, असम्बद्ध निर्णयों की चर्चा हो जाती है और यह आबन्धों की स्थापना नहीं करते। इस कथन का "यह कार्य शुभ है"—केवल यही अर्थ निकलता है कि "मैं इस कार्य को पसन्द करता हूँ"—क्योंकि कोई यह कह सकता है कि "मैं इस प्राकृतिक दृश्य को पसन्द करता हूँ"—और नैतिकता के सम्बन्ध में सम्पूर्ण चर्चा निरर्थक हो जाती है।

हमने पहले यह कहा है कि निरपेक्ष नैतिकता की वांछनीयता इसके अस्तित्व का प्रमाण नहीं है; बल्कि इसके अस्वीकरण के परिणाम जानने से नैतिकता के स्वरूप के बारे में किये गये हमारे निर्णय को वह महत्त्व प्राप्त होगा जो इस प्रकार के निर्णय के लिए आवश्यक है।

इन बातों को ध्यान में रखकर, अब हम कुछ सिद्धान्तों की चर्चा की ओर मुड़ें जो इस बात की स्थापना करने का प्रयास करते हैं कि नैतिकता सापेक्ष है-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् यह किसी और बात पर निर्भर करती है। परन्तु किसी प्रकार की गलतफहमी से बचने के लिए मैं इस बात पर बल देना चाहूँगा कि मैं सम्पूर्ण रूप से इन सिद्धान्तों को अस्वीकार करना नहीं चाहता; उनमें से कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जिनमें तात्त्विक बातें हैं जिन्हें न्यायसंगत सिद्ध किया जा सकता है और जो महत्त्वपूर्ण हैं; वे हमें यह भेद दिखलाने में सहायक हो सकते हैं कि वास्तव में नैतिक क्या है और नैतिक क्या नहीं है ? मेरा सम्बन्ध इस प्रश्न से है कि क्या ये सिद्धान्त नैतिकता के कुछ पक्ष छोड़ देते हैं या नहीं ? इस प्रकार यह एक प्रकार का अन्तर दिखलाते हैं जिसमें निरपेक्ष उचित प्रतीत होता है।

इन सिद्धान्तों में जैविक सिद्धान्त सबसे कम महत्त्वपूर्ण है। आजकल के जीवविज्ञान की कसौटी जीने की योग्यता है; अतः नैतिकता का निरपेक्ष होना या अन्तरध्यादेश होना तो दूर रहा, यह साधन के रूप में देखी जाती है, जिसका विकास प्राकृतिक वरण से होता है—उदाहरण के लिए, यूथ प्रवृत्ति का विकास करके। तो भी यूथ के भीतर प्राकृतिक वरण सबसे बलवान व्यक्तियों को चुनता है, इस प्रकार जैविक अर्थ में नैतिक व्यक्ति को अधिक बलवान होना होगा। परन्तु नैतिकता कई मामलों में उत्तरजीविता के लिए खतरनाक है। किसी के शत्रु से प्रेम करना या दूसरा गाल सामने रखना, निस्सन्देह उच्चतम नैतिक माँगों में स्थान रखते हैं, जिन्हें हमने प्राप्त किया है, और जीवन देकर भी इनका अनुसरण करना है। यह वह बल नहीं है जो उत्तरजीविता के जीवन-मरण संघर्ष के लिए आवश्यक है, जिसका काम निश्चय ही निष्ठुरता से अधिक अच्छी तरह चलता है; इसके लिए नैतिकता की अपेक्षा जीवनशक्ति अधिक अनिवार्य है। डार्विनवाद के किसी भी रूप को अनुकूल बनाने के लिए, अधिकांश नैतिक धर्मादेशों को फिर से व्याख्या प्रस्तुत करने में अत्यधिक कठिनाई होगी; और सच तो यह है कि शायद ही ऐसी कोई चीज छूटेगी जो नैतिक गुण सुझाती हो। नीट्त्से ने यह दिखला दिया है कि "नवीन नैतिकता" जिसकी जरूरत है, उसके विपरीत है जिसे हमने नैतिकता कह कर पुकारा है। अतः आगे इस सिद्धान्त पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।*

अधिक महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय सिद्धान्त है। इसका दावा है कि शुभ निरपेक्ष मूल्य नहीं है, बल्कि जो समाज के लिए शुभ है, अतः इसके प्रभाव से

---

* यह सत्य है कि पौधों और पशुओं के जीवन में सहयोग और पारस्परिक सहायता को मुख्य सिद्धान्त बनाने के प्रयास किये गये हैं, किन्तु डार्विनवाद को बदलने या उस पर प्रभाव डालने में यह प्रयास असफल रहे हैं। इस प्रकार के तथ्य मिलते हैं, किन्तु इनका गौण महत्त्व है। बहरहाल नैतिकता की जैविक व्याख्या प्रायः डार्विनवाद पर आधारित की जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह विकसित होता है। इस सिद्धान्त में निश्चय ही अधिक सचाई है; हमें सामाजिक प्राणी बनने में नैतिकता से सहायता मिलती है, जो जन्म से हम शायद ही हैं। सामाजिक प्रभावों के परिणामों को देखने से, नैतिकता और नैतिकता के प्रयोग में भेद बतलाना आसान हो जायेगा। किन्तु अगर हम सामाजिक दृष्टिकोण से देखें तो नैतिकता के विकास में कुछ ऐसी बातें हैं, जो बहुत ही आश्चर्यजनक हैं।

शुभ की जानकारी प्राप्त करने में हमारी जो मुख्य प्रगतियाँ हुई हैं, उनका कारण वे लोग हैं, जिन्होंने समाज के विरुद्ध विद्रोह किया और इसके द्वारा जिनकी आलोचना हुई और जिन्हें प्राणदण्डित किया गया। जब मॉसेज ने लोगों के समक्ष दस धर्मादेश प्रस्तुत किये तो उन्होंने इनका काफी विरोध किया; सुकरात ने शुभ के नवीन सम्प्रत्यय के लिए संघर्ष किया, जिसे अब हम उचित मानते हैं, किन्तु उसे प्राणदण्डित किया गया; ईसामसीह को क्रूस पर ठोक दिया गया। अगर नैतिकता उन्हीं बातों का समर्थन करती जिनकी आवश्यकता समाज को थी तो ये बातें कैसे समझ में आ सकतीं ?

सुकरात एक दार्शनिक था; अतः दार्शनिक शब्दावली में उसके भाग्य पर सबसे आसानी से विचार किया जा सकता है। आश्चर्य रूप से हम यह पाते हैं कि सामाजिक दृष्टिकोण से उसके जल्लाद सही थे। इस बात के दावे से कि एक प्रकार की नैतिकता थी, जो न केवल एथेंस के नागरिकों के लिए, प्रत्युत् प्रत्येक व्यक्ति के लिए, गुलाम एवं अन्य लोगों के लिए मान्य थी, वास्तव में यूनानी नगर राज्य खतरे में पड़ गया। इस प्रकार के दावे से इस विशेष समाज का सम्भजन निश्चय ही नष्ट होता, और नगर राज्यों के विनाश में सम्भजन के अभाव का निस्सन्देह महत्त्वपूर्ण स्थान था। फिर भी हम आज यह कह सकते हैं कि नैतिक रूप से सुकरात उचित था, उसने तत्त्वतः शुभ सम्बन्धी हमारे ज्ञान की वृद्धि की है, और इस मामले में, उसके उत्पीड़क गलत थे। परन्तु इससे नैतिकता की निरपेक्षता सिद्ध होती दिखायी देती है, क्योंकि समाजों का परिवर्तन होता है, और पुरानी नैतिकता, अगर यह किसी विशेष लुप्त समाज की देन है, हमारे लिए मान्य नहीं हो सकती। जब तक इसमें कोई ऐसा तत्त्व न हो, जो सभी युगों और मनुष्यों के लिए समरूप हो, हम यह नहीं कह सकते कि सुकरात उचित था; ऐतिहासिक सन्दर्भ में, एक रुचिकर ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में ही हम उसके सम्बन्ध में निर्णय कर सकते हैं। समाज किसी ऐसी उच्चतर नैतिकता का विकास नहीं करता, जो उसके बाहर की ओर संकेत करे;

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसके विपरीत, मॉसेज, सुकरात, ईसामसीह या वाद के कुछ गिरिजाघर के लोग, विधर्मी, सुधारक और दार्शनिक जैसे लोग, प्रचलित समाज के विरोध में अक्सर उच्चतम नैतिकता का विकास करते हैं। उनमें से कुछ समाज के विरुद्ध संघर्ष करते हैं और कुछ तो, अधिक नैतिक मनोवृत्ति की सृष्टि करने के उद्देश्य से, अपना जीवन भी अर्पित कर देते हैं। हमेशा यही उच्चतर नैतिकता समाज को धीरे-धीरे वदलती है, और यह ऐसा इसलिये कर सकती है कि जव एक बार कोई इसका तत्त्व हाथ में आ जाता है तो यह सभी परिस्थितियों में उचित दिखलायी पड़ सकती है।

इसके अतिरिक्त सामाजिक सिद्धान्त को तथ्यों के अनुरूप होने के लिए फिर से गूढ़ व्याख्या करने की आवश्यकता है। कहाँ तक इस प्रकार की व्याख्या की जा सकती है, उसका एक उदाहरण देखें: डर्कहिम, जो थोड़ा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक है, निश्चयपूर्वक यह कहता है कि समाज को शुभ के सम्वन्ध में एक अचेतन विचार है जिसकी आवश्यकता विकास की दूसरी अवस्था में पड़ेगी। सवसे पहले व्यक्ति को इस विचार की चेतना होती है, जैसेकि सुकरात को हुई, किन्तु समाज को अभी भी इसकी चेतना नहीं है, अतः यह व्यक्ति दुश्मन समझा जाता है। परन्तु वह इस विचार को प्रकट करता है और इस प्रकार वह इसकी वास्तविक आवश्यकता से समाज को इसलिये अवगत कराता है कि जव उसे सता लिया जाता है या उसकी हत्या कर दी जाती हैं, उसके बाद समाज इस विचार को स्वीकार करता है। क्या हम सचमुच में समाज के मानवीकरण में विश्वास कर सकते हैं? निरपेक्ष नैतिकता, जो इस व्याख्या को वदलने के लिए है, और उन तथ्यों में जिन्हें हम जानते हैं, तथ्यों और समाज को अपने जिस भविष्य का बोध है, उनमें सामंजस्य स्थापित करना काफी कठिन प्रतीत होता है।

फिर भी, नैतिकता मूलतः वैयक्तिक है। समाज को सम्वोधित करने वाला कोई धर्मादेश नहीं है—अर्थात् समाज को ऐसा या वैसा करना चाहिये, "तुम" अनिवार्य है। तो भी अगर यह व्यक्ति के प्रति अपील है तो यह तथ्य आश्चर्य-जनक प्रतीत नहीं होता कि पहले व्यक्ति इस अपील का अनुभव करता है और तब फिर वह समाज के विरुद्ध खड़ा होता है। निश्चय ही शिक्षा और दण्ड का काफी महत्त्व है, जिनके महत्त्व पर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त बल देता है किन्तु वे मूल्यों पर आधारित हैं; नैतिक अभिशंसन के पूर्व इस बात का निर्णय कर लेना है कि क्या दण्ड देना है? यही बात न्यायव्यवस्था पर भी लागू होती है; इसका उद्देश्य उस व्यवस्था को लागू करना है जो उचित समझी गयी; और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हालाँकि रीति-रिवाज और पूर्वग्रह धीरे-धीरे व्यवधान डालते हैं और सम्भवतः प्रबल होते हैं, फिर भी हमारे नैतिक ज्ञान के प्रकाश में इसका हमेशा उपचार करना चाहिये। यह नैतिकता समाज से स्वतन्त्र है। यह बात उस समय भी देखी जा सकती है, जब समाज का संचालन केवल भौतिक विचारों और सामाजिक आवश्यकताओं से होता है; उस समय नैतिकता का विकास नहीं किया जाता, प्रत्युत इसे दवाव या प्रोत्साहन से बदला जाता है। हम आज इस बात को समझ सकते हैं कि अगर व्यक्ति एक वार फिर समाज के विरुद्ध उठ खड़ा हो, जिससे नैतिक स्तर ऊँचा हो, तो कोई महत्त्वपूर्ण बात होगी। वे निश्चय ही समाज के शत्रु समझे जायेंगे। उदाहरण के लिए, हालाँकि हम पर्वत-प्रवचन के धर्मादेशों के प्रति दिखावटी प्रेम का प्रदर्शन करें, फिर भी राजनीति में यह शायद ही स्वीकार्य हों।

सिद्धान्तों का दूसरा वर्ग मनोविज्ञान पर आधारित है। इस बात में सन्देह नहीं कि इन सिद्धान्तों में भी, काफी सच्चाइयाँ हैं, जिनसे इस बात के स्पष्टीकरण में सहायता मिल सकती है। हम काफी हद तक उन प्रक्रियाओं की उपज हैं, जिनका मनोविज्ञान वर्णन करता है। अधिकांश मानवीय व्यवहार उन घटनाओं से निर्धारित होते हैं, जो अतीत में घटे हैं, और उनसे अब परिवर्तन नहीं किया जा सकता; अवेचतन की खोज से एक तत्त्व प्रकाश में आया है, जो वास्तविक और शक्तिशाली है। किन्तु मनोविज्ञान का लक्ष्य एक प्रकार की निश्चितता प्राप्त करना है, जिसे हम भौतिकी में पाते हैं; इसका आदर्श इस बात को दिखलाने में निहित है कि हम पूर्णरूप से अतीत काल के अनुभवों से निर्धारित होते हैं, जिस पर हमारा जोर नहीं होता, अर्थात् हम उन कारकों के वश में रहते हैं, जो हमारे व्यवहारों को कारणात्मक और सांख्यिकीय रूप से—स्पष्ट कर सकते हैं और जो हमें स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने की सम्भावना नहीं रखते। इस दृढ़ कथन का प्रयोग नैतिकता को सापेक्ष रूप में दिखलाने के लिए किया जाता है। क्या सम्पूर्ण सत्य के रूप में इसे स्वीकार किया जा सकता है?

हमने कई बार मनोविज्ञान के क्षेत्र के सम्बन्ध में चर्चा की है,* अतः फिर से हमें इस वादविवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध इन बातों से है कि हम कैसे विचार और अनुभव करते हैं, कैसे क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं, इसका सम्बन्ध उन मूल सम्प्रत्ययों से नहीं है, जिन्हें हम

* पृष्ठ संख्या ४, १३-१४; २४, ६-७ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रयोग में लाते हैं; यह इस बात की व्याख्या करता है कि हम मूल्यों का उपयोग और दुरुपयोग कैसे करते हैं, यह मूल्यों की व्याख्या नहीं करता, यह निर्णय करने की प्रक्रियाओं की रूपरेखा प्रस्तुत करता है, उन मानदण्डों की रूपरेखा नहीं, जिनपर हम अपने निर्णयों को आधारित करते हैं। अतः यद्यपि यह इस बात को तो दिखला सकता है कि हम कब स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकते, किन्तु यह उसी रूप में स्वतन्त्रता के बारे में कुछ कहने में असमर्थ है।* नैतिकता की अपेक्षा, स्पष्ट रूप से, कुछ और अधिक बातें हैं, जिनका पता मनोविज्ञान की विधियों द्वारा लगाया जा सकता है।

मुख्यतः मनोविज्ञान के कारण ही, हम "सुन्दर" और "असुन्दर" के रूप में "शुभ" और "अशुभ" शब्दों का प्रयोग करेंगे—अर्थात् अर्ध-सौन्दर्यात्मक तौर पर, जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं, दर्शक के रूप में प्रयोग करेंगे। परन्तु हमारी क्रियाओं के लिए जो भावानुभूति उत्तरदायी है, वह अन्तिम रूप से यह सिद्ध करती है कि यह अभिवृत्ति नैतिक क्षेत्र में अपर्याप्त है।

इसके अतिरिक्त प्रायः यह कहा जाता है कि नैतिकता केवल रीति-रिवाजों का विषय है, अतः इसमें हमेशा परिवर्तन होता रहता है, यह युग, राष्ट्र, भूगोल और जलवायु पर भी आश्रित है। यह बात नैतिकता को लागू करने और इसका प्रतिपादन करने के मामले में तो सत्य है, किन्तु क्या उसी रूप में नैतिकता के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है? मैं इस बात को अवश्य स्वीकार करूँगा कि मैं इस दावे को समझने में कभी समर्थ नहीं हुआ हूँ। मुख्य नैतिक धर्मादेश वास्तविक रूप में शायद ही बदले हैं और बदले भी हैं तो अन्य वस्तु से कम बदले हैं। उदाहरण के लिए, अगर दस धर्मादेश या पर्वत–प्रवचन के ऐतिहासिक सन्दर्भ के सम्बन्ध में हम विचार करते हैं तो देखते हैं कि इन दोनों ऐतिहासिक अवसरों पर जिन राज्यों और राष्ट्रों के साथ यहूदी सम्पर्क में आये, वे पूर्ण रूप से मिट गये; वे देश ही बदल गये; उपजाऊ जमीन, बंजर जंगली पहाड़ी इलाका बन गयीं; जलवायु बदल गयी, वास्तव में केवल वे ही कुछ वाक्य आजतक विद्यमान रहे हैं जो नैतिक धर्मादेश हैं।† वे आज भी अपने मूल रूप में

---

* पृष्ठ संख्या ५-६ देखिये।

† लगभग यही बात निरपेक्ष मूल्यों के मूर्त रूपों—कविता, मूर्तिकला, चित्रकला, वस्तुकला ज्ञान की प्राचीन पुस्तकों—के साथ भी लागू होती है, किन्तु चूँकि यहाँ हमारा इनसे सम्बन्ध नहीं है, अतः हम इन्हें छोड़ सकते हैं। विस्तृत अध्ययन के लिए पाल० रुबिचेक की पुस्तक, "थिंकिंग टुवार्ड्स रिलिजन" के अध्याय २ और ६ देखें।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रामाणिक हैं — अर्थात् अभी भी विद्यमान हैं और हमारे जीवन में इनका वास्तविक महत्त्व है। इसके विपरीत विज्ञान की उन विधियों और विचारों में उस समय से काफी परिवर्तन हुए हैं, जिन्हें हम अधिक विश्वसनीय समझते हैं, और प्रत्येक परिवर्तन से पहले के सिद्धान्त अमान्य ठहरा दिये गये हैं।

नैतिकता उतनी ही स्थायी है, जितनी हम सम्भवतः किसी ऐसी वस्तु के स्थायी होने की कल्पना कर सकते हैं जो मानवीय इतिहास का अंग है। ऐतिहासिक रूप से मनुष्य का जैसे-जैसे विकास होता है, हम पाते हैं कि पहले ऐतिहासिक अवस्थाओं के अनुसार नैतिकता का भी विकास होता है; प्रारम्भिक समय में आदिम समाज में, इसका अस्तित्व शायद ही इस रूप में रहा होगा, जिस रूप में हम इसकी चर्चा कर रहे हैं। फिर भी आश्चर्य की बात यह नहीं है कि इसका विकास उसी प्रकार से होता है जैसे प्रत्येक वस्तु का, प्रत्युत् आश्चर्य की बात तो यह है कि जब कभी या जहाँ कहीं भी यह विकास की अवस्था तक पहुँच जाती है यह सहसा स्थायी हो जाती है। यहूदी धर्म में दस धर्मादेशों और बाद के पैगम्बरों तथा यूनान में सुकरात के आगे के दार्शनिकों के साथ यह बात होती है; ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, कन्फ्यूशी धर्म में यह बात होती है। उस समय से नैतिक उपलब्धियाँ स्थायी रहती हैं, जबकि लगभग प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है। क्या इससे इस बात का पता नहीं चलता कि किसी ऐसे सत् का उद्घाटन होता है, जो तत्त्वतः मानव प्रकृति का है, जो रीति-रिवाज मात्र से भिन्न है ? यह बात और भी अधिक सत्य है, क्योंकि महान् धर्मों की नैतिक माँगें इतती समान हैं, कि अपने उद्भव काल में भी विभिन्न देश एक दूसरे को प्रभावित नहीं कर सके। नैतिकता के अर्थ और प्रयोग में परिवर्तन होने के बावजूद, यह विचित्र बात है कि नैतिकता स्थायी है।

रीति-रिवाजों को नैतिकता के बराबर दिखलाने का अर्थ यह भी होगा कि नैतिक प्रश्नों का निर्णय बहुमत से हो सकता है। अगर नैतिकता में राष्ट्र के केवल रीति-रिवाज होते, तो विश्वसनीय ढंग से बहुमत ही यह निर्णय कर सकता कि कौन-सा व्यवहार नैतिक है कौन अनैतिक ? डेविड ह्यूम ने ही इस बात का दावा किया था कि जिन कार्यों को अधिकांश मानवजाति द्वारा नैतिक स्वीकृति मिल जाती है, वे उचित होते हैं। परन्तु जब डब्ल्यू० लिली, ह्यूम की बात का खण्डन करते हैं तो उनकी बात पर अधिक विश्वास होता है। वे कहते हैं; "निश्चय ही कुछ ऐसे मामले हैं, जहाँ कोई व्यक्ति किसी कार्य को उचित ठहराता है, हालाँकि वह जानता है कि अधिकांश मावनजाति और प्रत्येक वर्ग

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के अधिकांश लोग इसे नापसन्द करते हैं और नैतिक रूप से उस कार्य को स्वीकार नहीं करते। वैयक्तिक अन्तःकरण की सबसे विशिष्ट अभिव्यक्तियों में एक यह है कि वह ऐसे नैतिक निर्णय करता है, जो उस वर्ग के अधिकांश लोगों के नैतिक निर्णयों से भिन्न होते हैं, जिसमें वह है।"[1] और हमने देखा है कि सुकरात की तरह, व्यक्ति उचित हो सकता है, चाहे अधिकांश लोग उसके विरुद्ध ही क्यों न हों। अल्प संख्या और बहुसंख्या महत्त्व नहीं रखते। आन्तरिक निश्चिति का महत्त्व होता है, क्योंकि परमतत्त्व सभी मनुष्य और युगों में एक ही होता है। अतः जब कोई इस परमतत्त्व पर थोड़ा सा प्रकाश डालेगा तब धीरे-धीरे उसके ज्ञान की पहचान होगी और उसका ज्ञान सिद्ध होगा। इस प्रकार संख्या से नैतिक प्रश्नों का हल नहीं निकल सकता।

सिद्धान्तों का एक दूसरा वर्ग, विशुद्धतः दार्शनिक ढंग से प्रत्यक्ष रूप से नैतिक सापेक्षता को स्थापित करने का प्रयास करता है। यह दृढ़ कथन अनेक भिन्न रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है, किन्तु तह में यह हमेशा इस बात को बतलाना चाहता है कि एक नैतिक संहिता दूसरी नैतिक संहिता की तरह ही कम न्यायोचित है, अर्थात् अगर हम एक को अधिक चाहते हैं और दूसरे को अस्वीकार करते हैं तो यह पसन्द की बात है। जनजातीय संहिता नरभक्षण की अनुमति देती है। यह उतना ही सुदृढ़ या निराधार होगी—जितना रोम का "स्टोइक दर्शन" या ईसाई नैतिकता। बर्टण्ड रसल कहते हैं कि दार्शनिक आधारों पर नीट्त्शे के उपदेश को अस्वीकार करना असम्भव है, क्योंकि यह "आन्तरिक रूप में स्वसंगत है"; उसका केवल यह कहने का अधिकार है कि वह इसे नापसन्द करता है।[2] निश्चय ही हम इस कथन के प्रति सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं, किन्तु क्या यह सही है? क्या सचमुच में दार्शनिक रूप से यह अन्तिम रूप से दिखलाना असम्भव है कि "स्वर्णाभिकेश पशु" के मूल्य ईसाई धर्म के प्रेम की अपेक्षा बहुत ही कम हैं?

तर्कीय प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत ही इन सिद्धान्तों का मुख्य रूप से विकास हुआ और इस विचारधारा की अवनति के साथ ही अब इनका महत्त्व उतना नहीं रहा जितना पहले कभी था। किन्तु कई बातें हैं जो विचार करने लायक हैं, क्योंकि उनसे उस बात का पता चलता है, जो किसी भी ऐसे सिद्धान्त में हमेशा अन्तर्निहित होती हैं तथा जो नैतिकता को सापेक्ष बनाने का प्रयास करती हैं। यह सत्य है कि अगर नैतिकता केवल बाह्य अवस्थाओं पर निर्भर करती तो सबसे बुरी जनजातीय संहिता उसी प्रकार न्यायोचित होती जिस प्रकार अन्य संहिता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस प्रकार के कथनों पर जो मुख्य आपत्ति लगायी जाती है वह स्पष्ट है–वे मानव बुद्धि के महत्त्व को नहीं समझते। अगर वे केवल रुचि की बातें होतीं तो उन पर सार्थक रूप से विचार नहीं किया जा सकता; किन्तु उन पर विचार किया जाता है और स्पष्ट रूप से किया जा सकता है और किया जाना चाहिये। तर्कीय प्रत्यक्षवाद में यह कहा गया कि सभी मूल्य निर्णय इस कथन के सदृश्य हैं—"मैं चाय में चीनी पसन्द करता हूँ"– जिस पर आगे विचार किये बिना विश्वास करना है। किन्तु यह एक विशेष प्रकार का मूल्य निर्णय है; नैतिक निर्णय सम्पूर्णतः भिन्न है। अगर अतिमहत्त्वपूर्ण प्रश्न—"मुझे क्या करना चाहिये" पर विचार नहीं किया जा सकता तो दर्शन का अभित्याग करना होगा। इस प्रकार का अभित्याग क्यों अनावश्यक है, उनके कारणों में कई कारण सामान्य महत्त्व के हैं।

पहला—यह आवश्यक नहीं कि पसन्द और नापसन्द जिनका इस सन्दर्भ में अक्सर उल्लेख किया गया है, मूल्य निर्णय के समरूप हों। हम किसी बच्चे को दण्ड देने की बात नापसन्द कर सकते हैं किन्तु फिर भी इसे अनुमोदित कर सकते हैं—यह एक ऐसी भिन्नता है जिससे "शुभ" और "उचित" के बीच, जिनका हमने उल्लेख किया है, पृथक्तता के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बढ़ा सकती है। सच तो यह है कि नैतिक माँगें इतनी कठोर होती हैं कि इन्हें पसन्द नहीं किया जा सकता; यही कारण है कि इनका शायद ही पालन होता है। फिर भी यह विश्वास करना समान रूप से गलत है, जैसा कि काण्ट ने किया, कि अगर कठिनाई से और अपनी प्रवृत्ति के विरुद्ध कोई अपना कर्त्तव्य करता है तो यह केवल प्रशंसनीय है, कभी-कभी यह प्रशंसनीय और सुखद दोनों हो सकता है। हमें विभिन्न अन्तर बतलाना आना चाहिये; पसन्द और नापसन्द को स्पष्ट रूप से नैतिक आवेगों से अलग करना चाहिये। इस प्रकार की भिन्नताएँ बतलाना अक्सर कठिन होता है, किन्तु वे सम्भव हैं। उदाहरण के लिए, वास्तविक अनुभूति में, जो भाव किसी व्यक्ति के लिए उत्तरदायी है और जिस भाव के प्रति किसी व्यक्ति का आकर्षण है, उनमें भिन्नता बतलायी जा सकती है। भावावेश का सम्मोहक गुण, अन्तःकरण के सम्मोहक गुण से भिन्न है। प्रतीयमान समानताओं की खोज करके—कि सामाजिक हैं, या मनोवैज्ञानिक या विशुद्ध रूप से तार्किक—नैतिकता की विशिष्टता को कम करने के बदले, हमें इसके विशेष लक्षणों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। चूंकि यहाँ हमारा सम्बन्ध भावों से है (हम उत्तरदायित्व के भाव को सही रूप से व्यक्त करते हैं और हम इस बात को मानते हैं कि अन्तःकरण की प्रतिक्रियाओं की अनुभूति होती है),

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अतः यह आवश्यक है कि इस प्रकार की भिन्नताओं की सहायता से हम अपनी सम्वेदनशीलता बढ़ायें।

दूसरी आपत्ति इस बात पर निर्भर करती है कि अधिमान सम्बन्धी कथनों और नैतिकता सम्बन्धी कथनों में जो विशिष्ट भिन्नताएँ हैं, उनकी खोज की जा सकती है और उन पर विचार-विमर्श हो सकता है। यह सत्य है कि अधिमान्यता, जैसे कुछ रंगों की अधिमान्यता, केवल पसन्द की बात है; अगर कोई व्यक्ति लाल रंग की टाई या पोशाक को अधिमान देता है और दूसरा व्यक्ति नीले रंग की टाई या पोशाक को, तो इस सम्बन्व में उस समय तक आगे विचार-विमर्श करने की आवश्यकता नहीं है, जब तक अन्य रंगों के साथ इसके ऐक्य में किसी प्रकार की बाधा न पड़ती हो। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि सच बोलने की अपेक्षा झूठ बोलना हमेशा अच्छा होता है; यह कुछ विशेष अवसरों पर ठीक हो सकता है, किन्तु इसे हम नैतिक सिद्धान्त नहीं बना सकते और न हत्या को अनैतिक बतलाना ही पसन्द की चीज या विशुद्ध रूप से आत्मनिष्ठ विचार है। कुछ मूल्य निर्णय पसन्द या वैयक्तिक अधिमान्यताओं पर आधारित हैं, किन्तु नैतिक निर्णय नहीं, क्योंकि न तो उनका विलोम किया जा सकता है न दो विपरीत मत सत्य हो सकते हैं। अतः विचार-विमर्श से हम अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकते हैं।

अतः पूर्ण संशयवाद—जिसका प्रतिपादन भी इस सन्दर्भ में हुआ है सचमुच में अतर्कसंगत है। इस प्रकार के संशयवाद का अर्थ यह होगा कि किसी भी व्यक्ति का नैतिक विचार पूर्णरूप से निजी होगा, क्योंकि "उचित" और "शुभ" की परिभाषा नहीं दी जा सकती, जब उनका प्रयोग किया जायेगा तो प्रत्येक व्यक्ति इन्हें भिन्न अर्थ में ग्रहण करेगा और सही अर्थ के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय सही नहीं होगा। हमने जो कुछ भी कहा है, उसके सन्दर्भ में यह स्पष्ट रूप से असत्य है; हमें हत्या या चोरी या नैतिक धर्मादेशों के स्थायित्व के बारे में सोचने की आवश्यकता है। किन्तु संशयवाद बहकाने वाला है; यह हमें उत्तरदायित्व से दूर रख सकता है; किन्तु अगर कोई व्यक्ति नैतिक विचारों को स्वीकार करता है तो वह इस आधार पर कभी कार्य नहीं करता; अतः अगर वह समस्त निहित कारकों की सावधानी से संवीक्षा करने के बाद अपने निष्कर्षों पर पहुँचेगा तो उसे इस बात का विश्वास हो जायेगा कि उसके निष्कर्ष सामान्य रूप से प्रामाणिक हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

तीसरी आपत्ति यह है कि नैतिक धर्मादेश केवल आदेशसूचक नहीं हैं, जैसाकि कुछ तर्कीय प्रत्यक्षवादियों का दावा है। इस मत के अनुसार, "यह कार्य शुभ है" का अर्थ केवल यह होगा कि "इस कार्य को करो।" यह सत्य है कि धर्मादेशों की अभिव्यक्ति हमेशा आदेशसूचक रूप में की जाती है, फिर भी वे बाध्यकारी होते हैं। क्योंकि वे मनुष्य प्रकृति के एक ऐसे तत्त्व के अनुरूप होते हैं, जिसे वे अपने आग्रह से स्पष्ट करते हैं। तार्किक रूप से यह कहना सही प्रतीत होता है कि जिन आदेशकों में "गा" या "चाहिये" का प्रयोग किया जाता है और जो इस प्रकार भावी सम्भाव्यताओं की ओर संकेत करते हैं, उनमें और उन वर्त्तमान तथ्यों से सम्बन्धित कथनों में कोई सामान्य बात नहीं है, जिनकी अभिव्यक्ति भविष्यत क्रिया (टूबी) से हुई है, अतः नैतिकता कोई तथ्य नहीं है। किन्तु यह विशुद्ध तार्किक भेद भ्रामक है; अगर यह ऐसा नहीं होता तो हम इन धर्मादेशों को यदृच्छ कहकर अस्वीकार कर देते। किन्तु चूंकि वे बाध्यकारी हैं, अतः उनका मूल उन तथ्यों में होना चाहिये, जिन्हें इस प्रकार भी वे अभिव्यक्त करते हैं। फिर भी, ये धर्मादेश एकान्तिक रूप से भविष्य के सम्बन्ध में ही विचार नहीं करते; वे हमें इस रूप में भी समर्थ बनाते हैं कि हम भूतकालिक कार्यों के बारे में निर्णय कर सकें।

नैतिकता के सम्बन्ध में अस्तित्ववादी सिद्धान्तों की हम बाद में चर्चा करेंगे। उनमें से कुछ सिद्धान्त निरपेक्ष नैतिकता को स्वीकार नहीं करते हैं और वे इसके स्थान पर इस विचार की स्थापना करने का प्रयास करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपनी नैतिकता की सृष्टि करता है; उनके विचार में, मनुष्य प्रकृति के तत्त्व, नैतिकता का निर्धारण नहीं करते, वह सम्पूर्ण रूप से यदृच्छ हैं। फिर भी, ये अस्तित्ववादी यह दिखलाने के लिए, उत्तरदायित्व की रक्षा करना चाहते हैं कि मनुष्य जो कुछ भी है, और जो कुछ भी करता है, उसके लिए, वह उत्तरदायी है। इस बात को दिखलाने में वे असफल रहते हैं। उनके अनुसार, मनुष्य अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है, किन्तु चूंकि प्रदत्त नैतिकता नहीं है, अतः वह उन सिद्धान्तों को हमेशा बदल सकता है, जिनपर वह अपने कर्मों को आधारित करता है। हालाँकि अधिकांश अस्तित्ववादी इसे अस्वीकार करते हैं, फिर भी इससे हम एक बार फिर निरपेक्ष की अवधारणा की ओर अग्रसर होते हैं, क्योंकि सार्थक होने के लिए, उत्तरदायित्व किसी ऐसी अनुभवातीत सत्ता पर आश्रित होने की माँग करता है, जो निरपेक्ष हो। सार्थक होने के लिए उत्तरदायित्व को न केवल "के लिए उत्तरदायी" होना है बल्कि "के प्रति उत्तरदायी"

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

भी होना है, और मनुष्य एवं "के प्रति उत्तरदायी" को अर्थ प्रदान करने में उस समय तक असमर्थ है जब तक वह अपनी प्रकृति में अनुभवातीत तत्त्वों की विद्यमानता स्वीकार न करे। यदृच्छा से नैतिकता की सृष्टि नहीं की जा सकती, इसमें आप्तवचन होना चाहिये।

परन्तु दैनिक जीवन में, सबसे महत्त्वपूर्ण नैतिक सापेक्ष सिद्धान्त सम्भवतः वह है, जो भौतिकवाद पर आधारित है—इतना कि अनेक लोग इसे शायद ही कोई सिद्धान्त मानेंगे, प्रत्युत इसे वास्तविक व्यवहार मानेंगे। फिर भी, इससे उन व्याख्याओं में और भी भेद प्रकट होते हैं, जो नैतिकता को सापेक्ष बनाती हैं।

भौतिकवादी अधिकतम संख्या के लिए अधिकतम आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। यह प्रत्यायक प्रतीत होता है और मौलिक रूप से इसका उद्देश्य भी मानवोचित था, किन्तु सच तो यह है कि यह मुख्य प्रश्न से दूर रहता है; जिस आनन्द की इच्छा की गयी है, उसकी परिभाषा नहीं दी गयी है। हम भौतिकवादियों की तरह यह प्रयास कर सकते हैं कि हम अपना पैर जमाये रखें और वही वस्तु प्राप्त करना चाहें जो हमारे लिए लाभदायक हो; किन्तु हमारे वास्तविक लाभ की कौन-सी वस्तु है ? क्या हम स्वार्थी हो जायें और निर्लज्ज होकर अपने स्वार्थ का प्रदर्शन करें ? कम से कम हम यह बहाना करें कि हम किसी नैतिक संहिता का पालन कर रहे हैं, या अपने पड़ौसी से प्रेम कर रहे हैं, या यथार्थ रूप से हम उससे प्रेम करें और अपने प्रश्नों से घबड़ाकर, हम इस कथन की ओर लौट आ सकते हैं कि हम केवल प्रसन्न होना चाहते हैं। किन्तु हम किस प्रकार की प्रसन्नता चाहते हैं ? क्या हम अपने मन की हरेक बात पूरी करने में समर्थ होना चाहते हैं, क्या हम यह चाहते हैं कि हमारे पास इतना धन हो कि हमारे मन की जो भी चाह हो वह पूरी हो ? किन्तु अगर हम ऐसा करते हैं तो हम पायेंगे कि हमारी कुछ इच्छाएँ उन कार्यों को करने के लिए प्रेरित करेंगी जिनसे कोई सुख प्राप्त नहीं होगा और हमारे कुछ कार्य तुच्छ प्रतीत होंगे। हमें कुछ और प्रतिमानों की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, हम मित्र चाहते हैं, एक सुखी पारिवारिक जीवन चाहते हैं। इसके लिए कम से कम आपसी विश्वास चाहिये, और इस दृढ़ विश्वास के बिना लोगों में विश्वास उत्पन्न होना शायद ही सम्भव है कि अन्य लोग उन्हीं प्रतिमानों के अनुसार कार्य करते हैं, जिनके अनुसार स्वयं हम कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में सद्भाव के निरपेक्ष मूल्य की आवश्यकता का बोध धीरे-धीरे स्वयं होता है। केवल उपयोगिता से यह प्रश्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आसानी से उठता है कि वास्तविक रूप से "कौन सा ऐसा काम है जो करने लायक है ?" अर्थात् वास्तविक रूप से शुभ क्या है—जबकि किसी विशेष साध्य के लिए कोई साधन चुनने की बात न हो, प्रत्युत् विभिन्न साध्यों में कोई साध्य चुनने की बात हो, जैसे विभिन्न प्रकार के जीवकों में कोई जीवक चुनने की बात हो। किसी को अपने काम में, केवल इस बात से शायद ही सन्तोष का आश्वासन मिल जाये कि इस काम में धन कमाने की अधिक सम्भावना है।

निस्सन्देह भौतिकवादी भौतिक सम्पत्तियों पर बल देता है, किन्तु इन्हें प्राप्त करने के लिए, उसे भौतिकवादी दर्शन की मौलिक प्रेरणा को दबाना पड़ता है—जिसका सम्बन्ध, मनुष्यों की समानता, शोषित वर्ग के लोगों के प्रति प्रेम और प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्याय को स्थापना करने की इच्छा से था। पूरब में अधिनायकतन्त्र और पश्चिम में अनुरूपवाद के दबाव के कारण, इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि भौतिक उपलब्धियों का सबसे अधिक महत्त्व हो : सुख प्राप्त करने के कई तरीकों में केवल इसी तरीके को स्वीकार किया जाता है और भौतिकवादियों की जो शक्ति है, वे इसे लागू करने के लिए करते हैं। यान्त्रिक प्रगति, उत्पादन में वृद्धि और इनके परिणामस्वरूप, धन में वृद्धि होने से मनुष्य का दरजा धीरे-धीरे घट गया है। वह केवल रोटी पर ही जीवित नहीं रह सकता। कोई भी व्यक्ति दोनों तरीकों से इसे प्राप्त नहीं कर सकता : या तो शुभत्व भौतिक उद्देश्यों से श्रेष्ठ है या मनुष्य की मर्यादा नष्ट हो जाती है।

अन्त में, नैतिकता के सम्बन्ध में कुछ आदर्शवादी सिद्धान्त हैं। इनसे इसकी निरपेक्षता पहचानने में कुछ सहायता मिली है, किन्तु चूँकि वे पूर्ण रूप से सहायता नहीं करते, अतः यह सिद्धान्त भी अनिर्णायक रह जाते हैं। आदर्शवादी, सामान्यतः तीन पारम्परिक मूल्यों—सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्—को चरम तथ्य के रूप में स्वीकार करता है। वह इस बात की जाँच-पड़ताल नहीं करता कि इनका उद्‌भव कहाँ से हुआ है। धर्म को अस्वीकार करते समय मानवतावाद की स्थापना करने के प्रयासों में यह एक प्रयास है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए, आदर्शवादी सहज ही यह प्रश्न करते हैं : क्या किसी ईसाई की अपेक्षा मानवतावादी प्रायः अधिक मर्यादित ढंग से व्यवहार नहीं करता ?—और इसका उत्तर "हाँ" में ही होना है। किन्तु कुछ लोगों की शक्ति और अन्य लोगों की कमजोरी के सिवा और कुछ क्या सचमुच में सिद्ध होता है ? अधिक संगत प्रश्न तो यह होगा, जैसाकि ईसाइयों का दावा है कि क्या सचमुच में मानवतावाद ईसाई

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

धर्म का परिणाम है ? और अगर ईसाई धर्म समाप्त हो जाये तो यह भी नहीं रहेगा। न तो यह नाज़ी जर्मनी में रहा, न साम्यवादी रूप में, और स्पष्ट रूप से हमारे अपने समाज में इससे संकट उत्पन्न हो गया है किन्तु चूँकि हम भविष्य के बारे में नहीं जानते, अतः इतिहास हमें स्पष्ट युक्तियाँ नहीं दे सकता।

फिर भी अगर हम अपने अनुभव का परामर्श लें तो हम देखते हैं कि निरपेक्ष मूल्यों तक रुक जाना हमारे लिए अनुचित क्यों है ? शुभ सार्थक कार्य, कठिन परिस्थितियों में "मात्र नैतिकता" की अपेक्षा कुछ और की माँग करते हैं—अर्थात् अमूर्त सम्प्रत्ययों पर आधारित नैतिकता से कुछ और अधिक की माँग करते हैं। वे उत्साह, पूर्ण आत्मसमर्पण उत्सर्ग की चाह, सम्भवतः अपने जीवन का उत्सर्ग करने की चाह की भी, माँग करते हैं और उनसे एक विशेष प्रकार का आनन्द, परमानन्द प्राप्त होता है। केवल नैतिक नियम के पालन से ही यह सब भावनाएँ नहीं जग सकतीं और न उसी रूप में निरपेक्ष मूल्यों से, प्रत्युत, इनका उद्‌भव किसी ऐसे गहनतर स्रोत से होना चाहिये जो नैतिक नियम से परे की ओर संकेत करे। नैतिकता का उद्‌भव प्रेम से होना चाहिये, और कीर्केगार्ड ने युक्तियुक्त रूप से यह दिखला दिया है, जैसाकि हमने देखा है कि किसी पड़ौसी से प्रेम करने का धर्मादेश, अनुभवातीत सत्ता की अनुभूति की पूर्वकल्पना करना है, चाहे किसी की भावनाएँ कुछ भी हों।* इस बात की पुष्टि दूसरी बात से होती है, जिनका पहले ही हमने उल्लेख किया है—कि जब विधिसम्मतता के लिए ही नैतिक नियमों का पालन किया जाता है, नैतिकता खतरे में पड़ जाती है।† फ्रान्सीसियों का प्रत्यक्ष उदाहरण है; अपनी धर्मनिष्ठा के कारण उन्होंने अधिक से अधिक सूत्रबद्ध किये जिनसे अनैतिक कार्यों पर रोक लग सके; ये नियम कड़े नियम में परिणत हो गये और आप से आप समाप्त हो गये, नैतिकता के सैद्धान्तिक प्रयोग से प्रेम का स्रोत नष्ट हो गया। ईसामसीह की प्रत्यक्ष पापियों की अपेक्षा उनकी, अधिक कटु आलोचना करनी पड़ी, क्योंकि इस प्रकार के पालन से वे अहंकारी और निष्ठुर हो गये। यह वर्डेव के शब्दों में "सद्‌गुण की असहनीय मन्दता" की ओर भी अग्रसर कर सकता है।

निरपेक्ष मूल्यों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए, आदर्शवादी भी—चेतन रूप से या अचेतन रूप से—नैतिकता को सापेक्ष बनाते हैं; उनके विश्वास इस विश्वास

* पृ० ६६ देखिये।
† पृ० ६३ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर निर्भर करते हैं कि मनुष्य मूलतः अच्छा है और उसकी बुराई कम महत्त्व रखती है। किन्तु सच तो यह है कि मनुष्य में अच्छी और बुरी सम्भाव्यताएँ हैं, और यह निश्चय करना कठिन है कि कौन अधिक सबल है; नैतिकता को चाहिये कि वह दोनों का बोध कराये, जिससे शुभ के लिए सुदृढ़ आधार ढूढ़ने में हमें सहायता मिले। सम्भव है कि आदर्शवाद अशुभ की वास्तविकता को कम करके निराशा की ओर अग्रसर हो, क्योंकि जब अशुभ की वास्तविक शक्ति आदर्शवादी के सामने उपस्थित होती है, तो उसे यह स्वीकार करना होता है कि मनुष्य की मूलभूत शुभत्व में विश्वास करना अतर्कसंगत है; किन्तु तब किसी ऐसे विश्वास के नष्ट होने से नैतिकता में विश्वास कमजोर पड़ जायेगा, जिस पर नैतिकता निर्भर नहीं करती।

जो सिद्धान्त नैतिकता को सापेक्ष मानते हैं, वे कैसे विभिन्न निष्कर्षों के लिए गुंजाइश छोड़ जाते हैं, उसके यह कुछ उदाहरण हैं। पर्यावलोकन को संक्षिप्त होना था, किन्तु मुझे आशा है कि जो मैंने कहा है वह इस बात के लिए पर्याप्त होगा कि हम अब इसका सार प्रस्तुत करें कि यह सभी व्याख्याएँ नैतिकता के साथ न्याय क्यों नहीं करतीं ?

जब मनुष्य स्वयं का अवलोकन करता है तो अपने भीतर एक नैतिक व्यवस्था के साथ संयोजन से भी अवगत हो जाता है, चाहे वह चाहे या न चाहे। अनुभव में, नैतिकता न तो स्वेच्छाचारी है न अन्य कारकों पर आश्रित, हालाँकि आत्मनिष्ठ रूप से इसका अनुभव किया जाता है, फिर भी यह एक वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध, एक अप्रतिरोध्य व्यवस्था को मानने के लिए हमें बाध्य करती है। यह तथ्य कि नैतिकता से कई समस्याएँ उठती हैं, वस्तुतः इसलिये उत्पन्न होता है कि यह निरपेक्ष है; अन्यथा इस पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती। हम अपने अन्तःकरण को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता निरन्तर क्यों महसूस करते हैं, यह अनुभव इतना तीव्र क्यों होता है कि हमारे द्वारा इसे कम महत्त्व देने और इस पर ध्यान नहीं देने के बावजूद, यह हमें स्वयं को अनुभूत करता है ? अगर यह अनुभव मनुष्य या मनुष्यों पर निर्भर करता तो किसी बाह्य शक्ति के अभाव में इसकी आसानी से उपेक्षा की जा सकती। किन्तु चूंकि यह एक वस्तुनिष्ठ व्यवस्था की अपेक्षा करता है, अत पसन्द, नापसन्द और प्रथा से भिन्न नैतिक प्रश्नों के सम्बन्ध में सोद्देश्य विचार-विमर्श किया जा सकता है। हालाँकि विभिन्न स्थितियों में नैतिक नियम को लागू करना व्याघातपूर्ण है और इससे हम विभिन्न निर्णयों पर पहुँचते हैं—यह एक ऐसी कठिनाई है जिसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सम्बन्ध में हम अभी विचार करेंगे, फिर भी हम यह महसूस करते हैं कि नैतिक व्याघात दूर हो जायेंगे।

वस्तुनिष्ठ व्यवस्था की अभिव्यक्ति होने के कारण नैतिक "कर्त्तव्य" की अनुभूति निरुपाधिक रूप में होती है। इसे अन्य दावों की तरह सोपाधिक रूप में सूत्रवद्ध नहीं किया जा सकता, जैसे, "अगर तुम वायलिन अच्छा वजाना चाहते हो तो तुम्हें प्रत्येक दिन इसका अभ्यास करना चाहिये।" इसमें "अगर" का कोई स्थान नहीं; इस प्रकार की मोहक उपाधि प्रस्तुत करने के सभी प्रयासों ने—जो प्रायः इस जीवन में या अगले जीवन में, आशाजनक पुरस्कार या दण्ड का रूप ले लेते हैं—नैतिकता को नुक्सान पहुँचाया है, क्योंकि इन्होंने सापेक्षता का मार्गप्रशस्त किया है। यह प्रश्न भी "मुझे नैतिक क्यों होना चाहिये ?" पहले से ही अनैतिक है, क्योंकि यह एक ऐसे दावे के लिए अनुरोध है जो नैतिकता की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है।

जिस सत्ता से नैतिक धर्मादेश उद्भूत होते हैं, वह अनादि और निरुपाधिक भी है। अगर इसकी पूर्ण रूप से अनुभूति होती है, तो यह समस्त आयोजित तथा इच्छित साध्यों को अभिभूत कर सकती है; यह किसी के स्वहित के विरुद्ध, उस परिवार या राजनीतिक सत्ता की माँगों के विरुद्ध जिसके समक्ष हमें प्रतीयमानतः झुकना पड़ता है, कार्य कर सकती है। एच० एच० फार्मर ने नैतिक माँग को अपरिहार्य दावे[१] की संज्ञा दी है। यह कोई आदेश नहीं है, प्रत्युत् एक दावा है, क्योंकि हम इसे अस्वीकार कर सकते हैं और अन्तर्विवेक की आवाज को दवाने का प्रयत्न कर सकते हैं; अगर हम अधिक समय तक अन्तर्विवेक की अवहेलना करें तो हम इसकी शक्ति को काफी कम भी कर सकते हैं। फिर भी दावा अपरिहार्य है। एक बार जब यह पूरी तरह से समझ में आ गया तो हम इससे बच नहीं सकते, चाहे हम इसकी अवहेलना या इसे अस्वीकार करने का कितना ही प्रयास क्यों न करें। हम जानते हैं कि हमें इसका पालन करना चाहिये। किसी अन्य सत्ता के संकेत के बिना इसकी अनुभूति होती है; दावे की सत्ता अनादि है। यह स्वयं माँग की निजी अनुभूति पर आधारित है—जैसा कि हमने "तुम"* की चर्चा करते समय देखा है।

साथ ही, माँग की निरपेक्षता का साक्ष्य इस तथ्य से प्राप्त होता है कि कोई भी स्थिति, जिसमें हम अपने को पाते हैं, अगर नैतिकता की दृष्टि से देखी जाये तो पूर्ण रूप से बदल जाती हैं; यह एक नया अर्थ प्राप्त कर लेती है। हम अनुभव करते हैं कि हमारे सामने केवल व्यावहारिक विचार ही नहीं हैं और

---

* देखिये पृष्ठ ६४-६।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अवसरवादिता से हमारा काम नहीं चलेगा; उत्तरदायित्व का भाव सबसे प्रबल होता है। इसका कारण यह है कि नैतिक रूप से जिस स्थिति की अनुभूति होती है, वह स्वतन्त्रता की अनुभूति हो जाती है। चूँकि नैतिक माँग निरुपाधिक है, अतः इसका अर्थ यह होता है कि मुझे जो करना चाहिये उसे मैं वास्तविक रूप से करने में समर्थ हूँ, और चूँकि मैं इस योग्यता की अनुभूति सचमुच में कर सकता हूँ, अतः अब आगे मैं अपने उत्तरदायित्व को छोटा नहीं समझ सकता। अगर नैतिक माँग निरुपाधिक नहीं होती तो इसका सम्बन्ध 'अगर" और प्रतिबन्धों से जोड़ना होता। यह सत्य है कि बाह्य और आभ्यन्तर बाध्यताएँ प्रायः इतनी सबल होती हैं कि मुझे उस काम को करने से रोकती हैं जो मुझे करना चाहिये। फिर भी, निरपेक्ष माँग न्यायोचित है; हालाँकि मुझे कोई काम करने से रोका जा सकता है, जैसे, जेल में बन्द कर दिया जा सकता है या शारीरिक रूप से पंगु बना दिया जा सकता है, लेकिन अगर मैं अन्तिम खतरा मोल लेने के लिए तैयार हूँ अर्थात् अपने जीवन का उत्सर्ग करने के लिए तैयार हूँ तो कोई भी मुझे उस काम को करने के लिए बाध्य नहीं कर सकता, जिसे मैं नहीं करना चाहता। सुकरात पर बाध्यता का जोर नहीं चला, क्योंकि उसने झुकने की अपेक्षा मरना अच्छा समझा।

आज कोई सम्भवतः इस विश्वास पर आपत्तियाँ उठा सकता है और कुछ समय पहले इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि नयी दवाइयाँ और शल्योपचार मनोवैज्ञानिक अनुकूलन हैं, जो मनुष्य के स्वभाव को बदल सकते हैं और उसे उस काम को करने के लिए बाध्य कर सकते हैं, जिसे वह नहीं करना चाहता है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि बाह्य बाध्यता के सामने अपनी स्वतन्त्रता का दावा करने की कोई सम्भावना समाप्त हो गयी है। फिर भी सच तो यह है कि इस प्रकार की नवीन सम्भावना से इस युक्ति को और अधिक बल मिलता है अर्थात् अगर कोई परिस्थिति नैतिकता के प्रकाश में देखी जाये तो स्वतन्त्रता की अनुभूति होकर अधिक गम्भीरता प्राप्त होती है। इसके दो कारण हैं; पहला, अगर इन सामर्थ्यों को हम व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखें तो इनके निहितार्थों की पूर्ण रूप से सराहना नहीं की जायेगी और उनका दुरुपयोग होगा, जैसाकि उनमें से कुछ का नाज़ी जर्मनी में हुआ; इस नवीन परिस्थिति को समझने के लिए, हमें यह मानना है कि एक गम्भीर नैतिक समस्या, एक महान् उत्तरदायित्व का प्रतिनिधित्व करती है। हमारे सामने इसके सिवा कोई विकल्प नहीं रह जाता कि निरपेक्ष नैतिकता पर विचार करें, क्योंकि सापेक्ष नैतिकता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ऐसे व्यवहारों के प्रयोग के कुछ मामलों की रक्षा करने की हमें हमेशा अनुमति देगी, जिससे हम अपरिहार्य रूप से उन मर्यादाओं को दूषित करने की ओर बढ़ेंगे जो कम बुराई के रूप में रक्षणीय होंगी। दूसरा, अगर हम यह समझते हैं कि हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा मृत्यु का वरण करके कर सकते हैं तो हमारे सामने मृत्यु का प्रश्न चला आता है, जिसका अर्थ होता है व्यक्तित्व का इतना पूर्ण परिवर्तन कि व्यक्ति के रूप में हम जीवित ही नहीं रहते। इसके अतिरिक्त कोई भी प्रेक्षक इस बात का मर्मस्पर्शी रूप से अनुभव करेगा कि प्रत्येक वस्तु को जो "मानव" कहलाने योग्य है, नष्ट होने का खतरा है।

उन सभी सिद्धान्तों की असफलता से भी इस बात का पता चलता है कि नैतिकता के साथ कोई धार्मिक मत, न्याय क्यों नहीं कर सकता, जो नैतिकता को सापेक्ष मानते हैं। लेकिन "धर्म" शब्द को इसी सन्दर्भ में समझना है जैसाकि कीर्केगार्ड के अस्तित्ववाद में है, सैद्धान्तिक कथनों और नैतिक नियमों की प्रणाली के रूप में नहीं, प्रत्युत जिस सत्ता की हम अनुभूति करते हैं उसके यथार्थवादी वर्णन के रूप में।

नैतिकता में एक तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण की अपेक्षा होती है : मनुष्य को स्वतन्त्र होना चाहिये, उसके वैयक्तिक कार्य महत्त्व रखते हैं। किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त में मनुष्य की स्वतन्त्रता के लिए कभी स्थान नहीं रहा है, और न यह दिखला सकता है कि उसके कार्य चाहे बाह्य रूप से यह कितने भी नगण्य क्यों न हों, महत्त्व रखते हैं—अर्थात् "निरपेक्ष सत्ता के साथ उसके निरपेक्ष सम्बन्ध" के बारे में संक्षिप्त सा प्रकाश डालते हैं। फिर भी किसी भी दृष्टिकोण से यह स्पष्ट करना कठिन है कि नगण्य व्यक्तियों के नगण्य कार्य कुछ अधिक सार्थक हैं और न, जैसाकि हम देख चुके हैं, नैतिकता ही अब अलग रहकर वहाँ तब तक पहुँचने में समर्थ है, जब तक कि यह अपने में पाप* की अवधारणा शामिल न कर ले। अगर अस्पष्ट रूप में भी इसकी अनुभूति की जाये, फिर भी नैतिकता अपने से परे की ओर इंगित करती है।

नैतिकता भी एक ऐसे आवेग की अपेक्षा रखती है, जो मानवीय प्रकृति से परे की किसी वस्तु से उद्भूत हो। निरपेक्ष मूल्यों का कोई आधार होना चाहिये, उनका अद्भव कहीं से होना चाहिये और यह "कहीं" प्रकृति और मनुष्य की अपेक्षा अधिक महान् होना चाहिये क्योंकि उनकी व्याख्या करने के लिए यह पर्याप्त नहीं है; वे अनुभवातीत स्रोत से प्रभाव प्रकट करते हैं। उत्तरदायित्व

---

* देखिये पृष्ठ ६१-२.

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के स्वरूप से इसकी पुष्टि हो गयी है, जिसके बारे में हम विचार कर चुके हैं; यह केवल "के लिए उत्तरदायित्व" नहीं हो सकता, प्रत्युत "के प्रति उत्तरदायित्व" भी होना चाहिये, और यथार्थ रूप में यह सार्थक तभी होता है जब यह मनुष्य से महत्तर किसी वस्तु के प्रति उत्तरदायित्व होता है।* अतः यह हमें पार्थिव जगत् से परे ले जाता है। नीति-शास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण रूप में इसी जगत् से नहीं है।

नैतिकता के इन पक्षों को ध्यान में रखने से, धर्म नैतिक मूल्यों को वस्तु-निष्ठता प्रदान करता है। चूंकि यह मूल्य वैयक्तिक हैं और यथार्थ होने के लिए यह वैयक्तिक सहभागिता की माँग करते हैं हमें हमेशा यह आशंका होती है कि वे "केवल आत्मनिष्ठ" – सन्देहास्पद, अर्थात्, अथवा अनुचित हैं। यह इस बात के लिए अतिरिक्त कारण प्रस्तुत करता है कि धर्म वांछनीय है, यद्यपि जैसाकि हमने कहा है, इसे स्वीकार करने का यह पर्याप्त कारण नहीं है। फिर भी, चूंकि नैतिकता के यह पक्ष हमारी वास्तविक अनुभूति के पक्ष हैं, अतः इनकी वांछनीयता स्वीकार करने की एक दूसरी कसौटी भी है और वह है नैतिकता में उस वस्तु-निष्ठ व्यवस्था का स्थान होना, जिसकी अभिव्यक्ति धर्म होती है।† धर्म और नैतिकता में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

नैतिकता के इस वैयक्तिक गुण में इस अन्योन्याश्रय की जड़ जमी है। हम नैतिकता का अनुभव, इस रूप में नहीं करते कि यह अवैयक्तिक नियम की माँग है, बल्कि वैयक्तिक निष्ठा की भावना में करते हैं; चूंकि नैतिक धर्मादेश मुझे सम्बोधित करता है, अतः यह एक वैयक्तिक आबन्ध है, और सम्भवतः इसकी तीव्र अनुभूति तब होती है, जब इसका पालन नहीं किया जाता। हमें कई बार इस बात पर बल देना पड़ा है कि नियमों के लिए ही उनका पालन करने का तर्क अपर्याप्त है। जो कार्य उचित है, उसे ही करने की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत् हमें उसे उचित अभिप्रेरणा से भी करना चाहिये; टी० एस० इलियट के शब्दों में :

दि लास्ट टेम्पटेशन इज़ दि ग्रेटेस्ट ट्रेजन :
टु डू दि राइट डीड फॉर दि रोंग रीज़न।

---

* पृष्ठ ८६-७ देखिये।

† पृष्ठ ९०-१ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लेकिन हम अपनी अभिप्रेरणा ही पहचान सकते हैं; दूसरों की अभिप्रेरणा के बारे में कहने का हमेशा ढोंग रचा जा सकता है। (हम अपने बारे में भी ढोंग रच सकते हैं, किन्तु इस स्थिति में नैतिकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है) हमें अपने हितों के विरुद्ध भी गलत धारणा को समाप्त करने के लिए तैयार रहना चाहिये। इस श्रमसाध्य सत्यवादिता का केवल बोध हो सकता है क्योंकि व्यक्ति के रूप में हमारा सामना उस सत्ता से होता है जो धर्म में वस्तुनिष्ठ हो जाता है।

यह सत्य है कि उनसे जो नैतिक व्याघात और संघर्ष उत्पन्न होंगे उनका परिहार हम नहीं कर सकते। नैतिक नियमों का विनियोग विभिन्न परिस्थितियों में करना है और यह आवश्यक नहीं कि इसका विनियोग सभी अवसरों पर स्पष्ट हो। इसका विस्तार इस रूप में नहीं हो सकता कि यह प्रत्येक परिस्थिति को ध्यान में रखे, क्योंकि इससे हमारी वैयक्तिक सहभागिता का वहिष्कार होगा। वैयक्तिक निर्णय के लिए अनिश्चय का कुछ स्थान होना चाहिये, नैतिक निर्णय हमारा अपना निर्णय होना चाहिये, जिससे हम इस बात का निश्चय कर सकें कि सही कारण के लिए हम सही कार्य करते हैं। इस प्रकार हम परस्पर विरोधी निष्ठाओं या कर्त्तव्यों का अनुभव कर सकते हैं, इस प्रकार का विरोध जैसे हमारे परिवार के प्रति हमारे आबन्धों, जिनमें थोड़ी बहुत स्वार्थपरता की आवश्यकता होती है, और हमारे पड़ौसी के प्रति हमारे आबन्धों के बीच, जिनमें काफी निःस्वार्थता की आवश्यकता होती है; या अपने देश को बचाने के लिए अप्रतिरोध्य कर्त्तव्य और इस निरपेक्ष आदेश के बीच विरोध– "तुम हत्या नहीं करो।" लेकिन जब कभी हम इस प्रकार के किसी गम्भीर विरोध का अनुभव करते हैं– जैसे, जब कभी सच्चे रूप से देशभक्ति और शान्तिवाद के सम्भावित औचित्यों का विरोध करते हैं—हम उस सत्ता के अस्तित्व का भी अनुभव करते हैं, जिसके सम्बन्ध में धर्म विचार करने का दावा करते हैं। अन्यथा हमें इस प्रकार के विरोधों में इतनी तीव्र अनुभूति क्यों होती, हम या तो झुक जाते या सबसे आसान रास्ता ढूंढ़ लेते ? अवसरवाद के परोक्ष में जो प्रभाव हैं, वे हमसे अधिक शक्तिशाली प्रतीत होते हैं, और फिर भी हम उचित निर्णय पर पहुँचने के लिए भीषण संघर्ष करते हैं, चाहे अन्त में हमारा निर्णय अधिकांश लोगों का ही निर्णय क्यों न हो। नैतिकता के अन्दर जो विरोध है, उनका परिहार नहीं किया जा सकता और हम इस बात की प्रत्याशा कर सकते हैं कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह तथ्य नैतिकता और धर्म दोनों को अमान्य करने के लिए पर्याप्त है, लेकिन इसके स्थान पर ऐसे विरोधों से उनकी शक्ति प्रकट होती है।

नैतिकता और धर्म के घनिष्ठ सम्बन्ध की समालोचना एक भिन्न दृष्टिकोण से भी की जा सकती है। एक ओर तो नीतिशास्त्र, अर्थात् केवल नैतिकता का खतरा है, नियमों का अनुसरण करने के लिए नियमों का अनुसरण करना। अगर यह किया जाता है तो विशुद्ध निषेधात्मक धर्मादेश जैसे "तुम हत्या नहीं करोगे" — भावात्मक धर्मादेशों की अपेक्षा जैसे "तुम प्यार करोगे" अधिक प्रमुख हो जाते हैं, क्योंकि हम उन कार्यों के सम्बन्ध में सुस्पष्ट रूप से कह सकते हैं जो हमेशा नियम के विरुद्ध होते हैं जबकि भावात्मक धर्मादेश इस प्रकार से निश्चित रूप से अभिव्यक्त नहीं किये जा सकते क्योंकि उन्हें निजी निर्णयों के लिए स्थान छोड़ना चाहिये। लेकिन इस प्रकार की नैतिकता, निषेधों का एक मृत संग्रह हो जाती है। अगर नैतिकता को जीवन प्रदान करना है तो इसे उस अनुभवातीत जगत् की पूर्णता की आवश्यकता पड़ती है जिससे इसकी उत्पत्ति होती है। दूसरी ओर धर्म का खतरा यह है कि यह तत्त्वमीमांसीय ध्यान में परिणत हो जाता है, जिसमें सबल मानवीय कल्पनाओं या अमूर्त ईश्वरपरक चिन्तन का प्रमुख स्थान होता है, और इस प्रकार मनुष्य के जीवन से इसका सम्बन्ध टूट जाता है निर्मल और जीवित रहने के लिए नैतिकता और धर्म एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। जॉन ओमैन ने इन पक्तियों में उनके यथार्थ को बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है, "अगर नैतिकता के बिना धर्म में धरातल का अभाव है तो धर्म के बिना नैतिकता में उस विस्तृत स्वर्ग का अभाव है जहाँ वह श्वांस ले सकता है।"[१] नैतिकता के बिना धर्म को सदा जीवन से विमुख होने तथा अनुचित अभिकथनों का शिकार बनने का खतरा बना रहता है; धर्म के बिना नैतिकता को अनम्यता में या यहाँ तक कि निर्ममता में विकृत होने का सदा खतरा रहता है। उनके यथार्थ सम्बन्ध को बार-बार विकृत किया गया है किन्तु यह इतना सबल है कि इसे बार-बार जीर्णोद्धार भी किया गया है।

नैतिकता पर विचार-विमर्श करते समय हमने कहा है कि हम भौतिक या वैज्ञानिक प्रमाणों पर भरोसा नहीं रख सकते; फिर भी अगर हम अनुभव को प्रमाण के रूप में स्वीकार करें, जैसाकि हमें करना चाहिए क्योंकि अनुभव से ही नैतिकता बोधगम्य बनती है, तो निरपेक्ष नैतिकता में विश्वास करना ही तथ्यों के अनुकूल है।

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

छै:

कीर्केगार्ड और अस्तित्ववाद

अस्तित्ववादी दार्शनिक मनुष्य को इस रूप में समझने का प्रयास करता है, जैसाकि वह वास्तविक रूप में है, जैसाकि अपनी विशिष्ट, ऐतिहासिक स्थिति में वह स्वयं का अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त उनमें से कुछ ऐसे अस्तित्ववादी जो अतिवादी नहीं हैं—जो मेरे विचार में सबसे अच्छे हैं—और कुछ दार्शनिक जो अस्तित्ववाद से प्रभावित हैं, मानवीय सम्बन्धों पर विचार करते हैं और मनुष्यों में मनुष्य को रखकर उसे देखते हैं, उनसे पृथक् करके नहीं। हाल के दर्शन के विकास में ये प्रयास सम्भवत: सबसे अधिक आशाजनक लक्षण हैं। यह सत्य है कि प्राचीन तत्त्वमीमांसीय प्रणालियों में भी व्यक्ति प्रधान था, किन्तु अमूर्त सत्ता के रूप में, उसका अर्थात् मानवीय मन का एक सामान्य विचार था जो विश्व का सामना करते हुए पाया गया। इसके स्थान पर, अब हम अपने को और अपनी समस्याओं को प्रमुख स्थान पर पाते हैं, जो हमें अपने जीवन में परेशान करती हैं।

इस बल का स्थान बदलने में "आत्मनिष्ठ विधि" की प्रयुक्ति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार जो कठिनाई उत्पन्न होती है वह "आत्मनिष्ठ" शब्द की अस्पष्टता से निर्दिष्ट होती है। जबकि "वस्तुनिष्ठ" शब्द का प्रयोग आगे बिना किसी व्याख्या के किया जा सकता है, "आत्मनिष्ठ" शब्द का अर्थ अक्सर "पूर्वाग्रह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

से ग्रसित, झुठलाया हुआ" समझा जाता है या कभी तो यह अभिलाषानुसारी विचार पर्याय माना जाता है। किन्तु विशेष रूप से जब हम "आत्मनिष्ठ विधि" के सम्बन्ध में चर्चा करते हैं तो इसका अर्थ केवल एक विशेष उपागम से होना चाहिये जो वस्तुनिष्ठ विधि के समान प्रामाणिक हो और इसका प्रयोग वहाँ किया जाना चाहिये जहाँ वस्तुनिष्ठता अपर्याप्त है—अर्थात् कोई भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए जहाँ वैयक्तिक सहभागिता की आवश्यकता हो। हमने देखा है कि जब हम वैयक्तिक अनुभूतियों, नैतिकता तथा मूल्यों की आस्था के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो यही बात होती है। अतः इसका अर्थ यह होता है कि आत्मनिष्ठ विधि अपने ढंग से उतनी ही विश्वसनीय होनी चाहिये जितनी कि वस्तुनिष्ठ विधि—जैसाकि वैज्ञानिक विधि—वास्तविक रूप से है। किन्तु क्या 'आत्मनिष्ठ विधि" और "विश्वसनीय विधि" का संयोग 'वदतोव्याघात' प्रतीत नहीं होता ?

इस प्रकार विश्वसनीयता प्राप्त करना कठिन है, क्योंकि एक बार जब हम अपनी अनुभूति से प्राप्त प्रमाण को स्वीकार कर लेते हैं तो पक्षपात और पूर्वाग्रह आसानी से घुस आ सकते हैं और इनसे उचित भेद-बोध होना कठिन हो जाता है क्योंकि इस विधि की शताब्दियों से उपेक्षा की गयी है। अस्तित्ववाद का प्रारम्भिक पूर्ववर्त्ती पास्कल ने तीन सौ वर्ष पहले ही यह महसूस कर लिया था कि वह किसी चेतन प्रयास के बिना इस प्रकार की स्पष्टता प्राप्त नहीं कर सकता। ज्योंही वह यह कहता है कि "हृदय के अपने तर्क हैं जिनके बारे में तर्कबुद्धि नहीं जानती," वह यह भी स्वीकार करता है कि "मनुष्य प्रायः अपनी कल्पना को हृदय समझता है।" उसे हमेशा इस बात का भय होता है कि हृदय का स्थान कल्पना न ले ले, क्योंकि "हृदय अपूर्ण है।" किन्तु उसे इस बात का कभी सन्देह नहीं होता कि "हम न केवल तर्कबुद्धि से सत्य को जानते हैं, प्रत्युत हृदय से भी जानते हैं, और इसी हृदय से हमें प्रथम सिद्धान्तों का ज्ञान होता है; और तर्कबुद्धि, जिसका इसमें कोई स्थान नहीं होता, व्यर्थ में उनका प्रतिवाद करने का प्रयास करती है।"[१] अपनी मुख्य कृति समाप्त करने के पहले उसकी मृत्यु हो गयी और इस प्रकार वह एक उपयुक्त विधि कार्यान्वित करने में असमर्थ रहा। यह कार्य कीर्केगार्ड पर छोड़ दिया गया जो केवल यह नहीं दिखलाता—जैसाकि हमने चौथे अध्याय में देखा है—कि कितने लाभदायक रूप से इस विधि का प्रयोग किया जा सकता है, प्रत्युत वह इसकी कुछ मुख्य विशेषताओं को भी दिखलाता है और इस प्रकार वह हमें इसका सही प्रयोग करने में सहायता प्रदान करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वह ज्ञान और आस्था के भेद से आरम्भ करता है—इस सन्दर्भ में (और हमेशा इस अध्याय में) ज्ञान का अर्थ उस ज्ञान से है जो चिन्तन के ज्ञात प्रयास से प्राप्त होता है। उसकी स्थिति यह है कि प्रत्येक ऐसी वस्तु में विश्वास करना असम्भव है, जिसके बारे में हम जान सकते हैं। यह अतिशयोक्ति-सा प्रतीत हो सकता है; किन्तु उसका अभिप्राय क्या है, यह हम देख सकते हैं। क्योंकि अपने प्रयासों से हमें प्रत्येक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, जिसकी हमें आवश्यकता है, हमें व्यवहार में अन्य लोगों पर भी अक्सर विश्वास करना होगा; फिर भी सिद्धान्ततः हम वस्तुनिष्ठ विधि पर आधारित प्रत्येक ज्ञान का स्वयं परीक्षण कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, हम स्वयं वैज्ञानिक प्रयोग करना सीख सकते हैं, ताकि हम इस बात का निर्णय कर सकें कि क्या उन पर आधारित निष्कर्ष स्वीकार्य हैं या हमें उन लिखित प्रमाणों की खोज करनी होगी जिनसे हम यह जान सकें कि क्या इस प्रकार के कथन कि—"कीर्केगार्ड का जन्म १८१३ में हुआ—तथ्यों के अनुरूप है।" विश्वास का केवल गौण, व्यावहारिक महत्त्व है। फिर भी आस्था सहित विश्वास महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह उस दिव्य-क्षेत्र की ओर संकेत करता है जो असीम रूप से मनुष्य के अनुभव से परे है, अतः यह पूर्ण रूप से जाना नहीं जा सकता। यहाँ हमें आस्था रखने का कार्य करना होता है; हमें सतत् रूप से नवीकृत तत्परता की आवश्यकता होती है जिससे हम उस चीज को स्वीकार कर सकें, जिसका प्रमाण नहीं दिया जा सकता, हमें अगाध गर्त्त में छलाँग मारने का खतरा मोल लेना होगा, जो केवल अनुवर्त्ती परिणाम से न्याय-संगत सिद्ध किया जा सके, इसके परिणाम के पूर्ववर्ती ज्ञान से नहीं।* अतः आस्था जैसाकि अक्सर माना जाता है, ज्ञान का निर्बल स्थानापन्न नहीं है, जिसे कम से कम समय में प्रतिस्थापित होना है; ये दोनों आधारभूत रूप से भिन्न हैं।

हमें दो भिन्न प्रकार की सत्यता को स्वीकार करना होगा। ज्योंही हम किसी विश्वकोश के बारे में सोचते हैं, उनका भेद स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार की कृति में बहुत सारे सही कथन होते हैं, जो ज्ञान पर आधारित हैं; लेकिन हम शायद ही उस सत्यता की खोज करने के लिए इसकी सहायता लेंगे, जिसके द्वारा हम जीते हैं। आत्मनिष्ठ-विधि को एक ऐसा सत्य उद्‌घाटित करना है जो वास्तविक जानकारी की तुलना में वैयक्तिक अनुभूति का विषय हो सके और

---

* पृष्ठ ५६-६१ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

उसके द्वारा, हम जिस चीज में विश्वास करते हैं और जो हम करते हैं, उस पर गहरा प्रभाव पड़े—वह प्रभाव, जैसाकि किसी प्रकार की आस्था से पड़ता है।

उस सत्य की खोज करने के लिए जिसके द्वारा हम जीते हैं, हमें वैयक्तिक अनुभूति से आरम्भ करना होगा और अपने विचारों को इस पर आधारित करना होगा, इसके विपरीत नहीं। यह उन सभी अस्तित्ववादियों के लिए प्रमुख शर्त्त है, जो इस बात पर बल देना नहीं छोड़ते कि "व्यक्ति ही वास्तविक है।" कीर्केगार्ड इस बात पर बल देता है कि "विचार से अस्तित्व का अनुमान करने का प्रयास व्याघात है", क्योंकि विचार अस्तित्व को वास्तविकता से दूर ले जाता है और इसके बारे में इसकी वास्तविकता को निराकृत करके असम्भव के क्षेत्र में इसे परिणित करके विचार करता है।"[1] वह उस समबाहु त्रिभुज का विवेचन करते हुए इस बात को समझाता है जो सृष्टि की पूर्ण ज्यामितीय नियमितता में कभी पाया नहीं जाता; इस प्रकार की नियमितता तभी प्राप्त की जाती है जब समस्त वास्तविक प्राकृतिक अवस्थाओं की अवहेलना की जाती है। अमूर्त सम्प्रत्ययों को प्राप्त करने के क्षेत्र में भी हम इसका विस्तार कर सकते हैं क्योंकि कीर्केगार्ड जिस विचार की ओर संकेत करता है उसके ये सम्प्रत्यय आधार हैं। उदाहरण के लिए, अगर हम "टेबुल" सम्प्रत्यय पर पहुँचते हैं तो यथार्थ टेबुल की समस्त विशेषताओं—रंग, भार, आकार आदि विशेषताओं को अलग कर दिया जाता है, जिससे हम किसी भी टेबुल के सम्बन्ध में इस संप्रत्यय का प्रयोग करने में समर्थ हो सकें। हमने "वास्तविकता को निराकृत करके" इस संप्रत्यय का निर्माण किया है और "असम्भव के क्षेत्र में इसे परिणत किया है" क्योंकि विशेषताओं के बिना इस टेबुल का अस्तित्व नहीं है। अतः "अस्तित्व अनुमान" करने के लिए अमूर्त सम्प्रत्ययों से आरम्भ करना गलत होगा। फिर भी अमूर्त तत्त्वमीमांसीय प्रणालियों में ठीक यही किया गया है, जैसाकि काण्ट ने पहले दिखलाया था और काण्ट के होते हुए भी, फिर वही आलोचना करनी होगी, क्योंकि अपने दर्शन के आधार के रूप में हेगेल अमूर्त सम्प्रत्यय "चित्त" शापेनहावर "संकल्प" भौतिकवादी "भौतिक द्रव्य" का प्रयोग करता है। कीर्केगार्ड की अस्तित्ववादी आलोचना काण्ट की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष रूप से सन्देह दूर करती है। हमें अस्तित्व की अपनी वैयक्तिक अनुभूति से आरम्भ करना चाहिये।

इस प्रकार का आरम्भ इस बात की अपेक्षा रखता है कि हम आत्मनिष्ठ विधि का निरन्तर और सही रूप से प्रयोग करें। कीर्केगार्ड इसकी कठिनाइयों से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अवगत है। यह सामान्य रूप से माना जाता है कि आत्मनिष्ठ होने के लिए किसी कला या निपुणता की आवश्यकता नहीं होती। सच तो यह है कि प्रत्येक प्राणी एक अर्थ में विषय का एक अंश है। लेकिन पहले से जो वह है, उसे अब वह बनने का प्रयास करने के लिए; कौन इस काम को पूरा करने के लिए अपना समय नष्ट करने का कष्ट उठायेगा, जिसमें आत्मसमर्पण की अधिकतम मात्रा शामिल है ?......लेकिन केवल इसी कारण से यह बहुत ही कठिन काम है, सच तो यह है कि यह सभी कामों में सबसे अधिक कठिन है।[1]

इस कार्य के विस्तार से हमें अवगत कराने के लिए, वह बार-बार यह दिखलाता है कि इसमें कितने साहस की आवश्यकता होती है; तब स्ववचन निबद्धता के खतरे से बचने के लिए अवचनबद्ध अमूर्त चिन्तन की निश्चितता का परित्याग करता है; और इस प्रकार अपने उदाहरणों को पूर्ण रूप से समझने के लिए वह अपने पाठकों को तैयार करता है। उसे जॉब या अब्राहम के "भय और कम्पन" का सामना करना पड़ता है, जिसकी हमने चर्चा की है; निरपेक्ष निश्चिति पाने की आशा में उसे मन की ऐसी अवस्था सहने के लिए तैयार होना होता है जहाँ सारी निश्चिति समाप्त हो गयी है।

स्वयं इस विधि का क्या अर्थ है, इस पर कीर्केगार्ड ने सबसे अच्छा प्रकाश डाला है। वह कहता है: "ईसाई धर्म की वस्तुनिष्ठ स्वीकृति या तो पैगन-मत है या विचारहीनता।" ईसाई धर्म जीवन का एक साधन है; किन्तु इस पर चले बिना, एक रोचक विचारधारा के रूप में, विश्व की एक निरपेक्ष व्याख्या के रूप में या कर्मकाण्ड के रूप में इसे स्वीकार करना, निरर्थक-सा है। आत्मनिष्ठ विधि हमेशा पहले पन्थ, जीवन और कर्म में सम्बन्ध स्थापित करती है। पन्थ को वास्तविकता प्रदान करने में यह विधि हमें अपने परिणामों में आवेष्ठित कर देती है। हम जिस चीज में विश्वास करते हैं, उसके अनुसार कार्य करने का हममें संकल्प होना चाहिये, जिससे प्राप्त होने वाली इसकी वास्तविक अनुभूति से हम इसके अर्थ को समझ सकें।

अगर कर्म सत् अभिवृत्तियों पर आधारित हों तो वे सत् प्रकार की आत्मनिष्ठ अन्तर्दृष्टि उत्पन्न कर सकते हैं। कीर्केगार्ड इस अभिवृत्ति की अपेक्षा रखता है जब वह यह कहता है कि अधिकांश मनुष्य अपने प्रति आत्मनिष्ठ होते हैं, जबकि अन्य सभी लोगों के सामने वस्तुनिष्ठ होते हैं, और कभी-कभी तो वे घोर वस्तुनिष्ठ होते हैं— किन्तु वास्तविक कार्य तो ठीक इसके विपरीत है अर्थात् सभी लोगों के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रति आत्मनिष्ठ होना।[1] हमें अन्य लोगों के प्रति कठोर और दूसरे लोगों के प्रति मृदुल होने की सहज प्रवृत्ति से दबना नहीं चाहिये, क्योंकि हम अन्य लोगों को तभी समझ सकते हैं जब हम उन्हें उनके अन्तर को समझने का प्रयास करें, उनकी अनुभूतियों को अपनी अनुभूति बनाने का प्रयत्न करें। लेकिन जब हम स्वयं का सामना करते हैं तब हमें एक प्रकार की अनासक्ति की आवश्यकता होती है, जिससे हम पूर्वाग्रह को उस आत्मा से भिन्न करने में समर्थ हो सकें, जो सभी मनुष्यों में सामान्य रूप से पाया जाता है, लेकिन जो केवल वैयक्तिक अनुभूति से सुगम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, हमें वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के वैषम्य की आवश्यकता होती है; अतः हमें अपने बाहर, जहाँ वस्तुनिष्ठता अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है और अपने भीतर, जहाँ पूर्वाग्रह ग्रसित आत्मनिष्ठता हमें अन्धकार की ओर ले जाती है, दोनों के विषय में सचेत होना पड़ता है। हमें कर्मों की आवश्यकता होती है क्योंकि उनसे बाहर और भीतर के बीच सम्बन्ध की सृष्टि होती हैं और अगर हमारी वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ अभिवृत्तियाँ उचित हैं तो उनसे हमारा ज्ञान बढ़ेगा। कीर्केगार्ड के अनुसार : ईश्वर ही "निरपेक्ष आत्मनिष्ठता" है और उसके लिए बाहर और भीतर एक है, और जो चीज हमें वस्तुनिष्ठ प्रतीत होती है और इस प्रकार वह बाहर की लगती है, उसके बारे में उसे भीतर से पूर्ण रूप से जानकारी है। हमें आत्मनिष्ठ विधि के लिए वस्तुनिष्ठता को सहायक बनाना है।

इस प्रकार, कीर्केगार्ड जिसे "अधिकतम अवाप्ति" मानता है, उसे हम प्राप्त कर सकते हैं—अर्थात् हम निरपेक्ष साध्य का निरपेक्ष सम्बन्ध और सापेक्ष साध्यों का सापेक्ष सम्बन्ध बनाये रख सकते हैं। यह कहा जाता है कि यह स्पष्ट मालूम पड़ सकता है; लेकिन किसी सापेक्ष वस्तु को हम जिस रूप में ग्रहण करते हैं, उससे अधिक गम्भीरता से हमें निरपेक्ष को ग्रहण करना चाहिये; लेकिन यह अत्यधिक कठिन है। उदाहरण के लिए, अगर किसी ऐसे अवसर पर विशाल धनराशि खो जाय या समाज-संहिता का कोई अतिक्रमण हो जाय जो हमारे जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है तो उस भारी पाप की अपेक्षा वह अधिक हमें परेशान करता है जिसकी जानकारी दूसरे लोगों को नहीं होती या जिसे समाज क्षमा कर सकता है। हम उस भूल की अपेक्षा हृदय की अकर्मण्यता के लिए अधिक आसानी से अपने को क्षमा कर देते हैं जिसके व्यावहारिक परिणाम क्षति पहुँचाने वाले होते हैं। लेकिन एक बार जब हम उस अनासक्ति से सापेक्ष साध्यों को देखने में वास्तविक रूप से समर्थ हो जायें, जिसका इतने सुन्दर ढंग से सामाजिक भेदों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

की चर्चा करते समय वर्णन किया है—जैसे एक लबादा जिसे छोड़ देना होता है*—और साथ ही निरपेक्ष के अटूट बन्धन में बँध जायें तो उचित दिशा में हमारे दर्शन का विकास शुरू होगा।

सामान्य दार्शनिक उपागम और अस्तित्ववादियों के उपागम का भेद संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। अधिकांश अनास्तित्ववादी दार्शनिक वस्तुओं से आरम्भ करते हैं, उसके बाद वे व्यक्ति को शामिल कर लेते हैं, किन्तु केवल एक अमूर्त अस्तित्व के रूप में; एक अमूर्त विचारक के रूप में कर लेते हैं और वस्तुनिष्ठ ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे फिर वस्तुओं पर लौट आते हैं। कीर्केगार्ड व्यक्ति से आरम्भ करता है, फिर वैयक्तिक अनुभूति प्राप्त करने तथा इसे स्पष्ट करने के उद्देश्य से फिर वह वस्तुओं को शामिल करता है, और फिर वह व्यक्ति पर चला आता है, जिससे वह उचित प्रकार से आत्मनिष्ठता प्राप्त कर सके। वह हमारा ध्यान आन्तरिक अनुभूति की ओर मोड़ना चाहता है, उसका लक्ष्य आभ्यन्तरता है।

लेकिन इन दोनों विधियों में एक दूसरा वैषम्य है। जिस विश्वसनीयता से प्रत्येक विधि प्राप्त कर सकती है, वह भिन्न है, क्योंकि यह दो भिन्न प्रकार की निश्चिति पर आधारित है।

आत्मनिष्ठ विधि के परिणामों का परीक्षण हो सकता है, उन्हें सिद्ध किया जा सकता है और एक बार जब वे सिद्ध हो जाते हैं तो वे सन्तोषजनक रूप से दूसरों तक पहुँचाये जा सकते हैं, क्योंकि आगे जाँच-पड़ताल किये बिना उन्हें स्वीकार किया जा सकता है। फिर भी वे कभी अन्तिम नहीं होते। हालाँकि तथ्यों में परिवर्त्तन नहीं होता, फिर भी उनके अर्थ में परिवर्त्तन होता है, जैसाकि विज्ञान के विकास से पता चलता है और नये तथ्यों की खोज से निरन्तर उनमें परिवर्त्तन होता रहता है या पूर्ण रूप से विज्ञान के सिद्धान्त बदल जाते हैं। विश्वसनीयता महान् है, अतः इससे विज्ञान का तकनीकी प्रयोग सम्भव हो जाता है, लेकिन इसे कभी निरपेक्ष निश्चिति के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे आगे के विकास में बाधा उत्पन्न होगी।

आत्मनिष्ठ विधि हमेशा नयी अनुभूतियों पर निर्भर रहती है, इसके परिणामों को हमेशा के लिए स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि हमें हमेशा उन्हें अपनी अनुभूति में परिणत करना होता है। चूँकि वैयक्तिक सहभागिता की आवश्यकता

* पृष्ठ ६९ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होती है, अतः अनिश्चिति का क्षेत्र खाली रखना चाहिये, जैसाकि हम देख चुके हैं, जिससे वैयक्तिक निर्णयों को स्थान दिया जा सके।* इस प्रकार इस विधि का प्रयोग हमेशा कठिनाइयों और खतरों से घिरा होता है; इसके किसी भी परिणाम को अन्तिम रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। फिर भी एक वार जव निश्चिति प्राप्त हो जाती है तो वह निरपेक्ष हो जाती है। उदाहरण के लिए, जव हम शुभत्व की पूर्ण रूप से अनुभूति करते हैं तब फिर हमें इस वात में कभी सन्देह नहीं हो सकता कि हमने एक ऐसी सत्ता का उल्लेख किया है जिसे बिना शर्त्त स्वीकार करना होगा, अगर हमें अपनी अनुभूति के साथ न्याय करना है। अतः आत्मनिष्ठ विधि के परिणामों में "टेन कमाण्डमेण्ड्स" या "सरमन ऑन दी माउण्ट"† का स्थायित्व है- यह एक ऐसा स्थायित्व है जो वस्तुनिष्ठ विधि के क्षेत्र में नहीं मिलता — यह परिणाम अन्तिम हैं। फिर भी उनका पूर्णरूप से सम्प्रेषण नहीं हो सकता, अगर उन पर अपना दृढ़ विश्वास उत्पन्न करना है और उन्हें हमारे जीवन का अंग वनना है तो उन्हें वार-वार हमारी अपनी अनुभूति में आना होगा। अतः हमेशा एक खतरा वना रहता है, गलत निर्णय करने से हमें कोई नहीं रोकता। किन्तु यह खतरा मोल लेने योग्य है, क्योंकि विज्ञान हमारे जीवन के वाह्य रूप का फिर से निर्माण तो कर सकता है, लेकिन आत्मनिष्ठ विधि के सम्भावित भावात्मक परिणाम हमारे आन्तरिक वैयक्तिक विकास के लिए गहरा अर्थ रखते हैं।

कीर्केगार्ड के साथ भी कठिनाइयाँ और खतरे समाप्त नहीं हो जाते। हमने पहले सम्भावित आलोचनाओं का उल्लेख किया है।** उनके विचार में ईसाई धर्म सवसे अधिक निरर्थक है, क्योंकि कोई भी तर्कनावादी कभी यह विश्वास नहीं कर सकता कि ईश्वर मनुष्यों में सवसे अधिक दीन हो गया था और उसे फाँसी पर चढ़ा दिया गया, लेकिन वह यह मानता है कि इससे ईसाई-धर्म सबसे अच्छा धर्म वन जाता है, क्योंकि इस प्रकार इसमें आस्था की सवसे समर्थ क्रिया की आवश्यकता होती है। फिर भी ईसाई-धर्म हालाँकि तर्क-बुद्धि के परे खो जाता है, लेकिन निश्चित रूप से इसकी भी सहायता ले सकता है। कीर्केगार्ड ईश्वर और मनुष्य में पूर्ण वैषम्य देखता है, जो निरर्थकता की खाई द्वारा पूर्ण रूप से पृथक् है; फिर भी "अगाध गर्त में छलाँग मारने" का खतरा उठाने की चाह उत्पन्न करने के लिए, मनुष्य में कम से कम दैवी अंश तो होना ही चाहिये।

* पृष्ठ ७५-६, ६५ देखिये।

† पृष्ठ ८१-२ देखिये।

** पृष्ठ १०-११ और ६०-६१ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अविवेकशील विरोधाभास पर उसके बल देने में भी तर्क-बुद्धि का पूर्ण रूप से बहिष्कार हो जाता है, और इसके भावात्मक पक्षों के होते हुए भी उसकी नैराश्य की निरन्तर माँग से शुभ समाचार के रूप में शुभ-सन्देश और आनन्द के महत्त्व पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है।

सम्भवतः सबसे बाधक कमजोरी यह है कि वह हमसे इस बात की अपेक्षा रखता है कि हम अपने विचार में अपनी ऐतिहासिक स्थिति को शामिल कर लें, क्योंकि इस प्रकार वह अपने काल पर काफी आश्रित हो जाता है। वह कहता है : "किसी विद्यमान व्यक्ति के लिए भावावेश अस्तित्व का चरमोत्कर्ष है"[१] और उसने अपने उस युग को खराब कहकर उसकी आलोचना की, जिस युग में वह रहता था क्योंकि इसमें भावावेश का अभाव था। उसका भावावेश और आभ्यन्तरता का तादात्म्य शायद ही आज कोई स्वीकार करता है। हमारे समय के राष्ट्रवादी तथा सैद्धान्तिक आन्दोलनों से यह पता चला है कि भावावेश उस अनुत्साह की अपेक्षा अधिक विनाशकारी हो सकता है, जिसकी कीर्केगार्ड आलोचना करता है; स्पष्टतर भेद आवश्यक है। यह सत्य है कि वह अपने युग की महत्त्वहीनता को इतने स्पष्ट रूप से पहचानता है कि उसकी कई कटु आलोचनाएँ आज भी सत्य हैं, जैसेकि जब वह यह कहता है : "हमारा युग आस्था के साथ, अर्थात् जल को शराब में परिणत करने के इस चमत्कार के साथ, रुकना नहीं चाहता, यह आगे जाता है, यह शराब को जल में परिणत करता है।"[२] लेकिन भावावेश पर हानिकर रूप से अधिक बल देना बार-बार प्रकट हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब वह इस बात का दावा करता है कि अगर कोई गैर ईसाई उसकी मूर्तियों में भावावेश में विश्वास करता है, जबकि एक ईसाई का निरुत्साहित विश्वास है तो यह गैर ईसाई है जो विश्वास करता है, ईसाई नहीं, जैसाकि कोई विश्वास कर सकता है। हमें निश्चय ही दोनों की आवश्यकता है, उचित प्रकार की भावना की और उचित विश्वास की। स्वयं कीर्केगार्ड हमें इस बात से सावधान करता है कि किसी तर्कवाक्य की सत्यता कोई वस्तु नहीं है जिसे निश्चयपूर्वक सदा के लिए कहा जा सके, प्रत्युत यह इसके हिमायती के अभिप्राय का सापेक्ष है और अन्त में यह उस तर्कवाक्य पर निर्भर करता है जो इसके विरुद्ध कहा गया है। यह सामान्य रूप से सही नहीं भी हो सकता है लेकिन उसके उपदेश के कुछ पक्षों के साथ इसके सम्बन्ध को हमें ध्यान में रखना है।

लेकिन चूंकि आत्मनिष्ठ विधि को वैयक्तिक निर्णय के लिए स्थान छोड़ना चाहिये, अतः महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इसे इस बात का सुनिश्चय करना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चाहिये कि हम उचित दिशा में बढ़ें। अगर यह बात है तो किसी भी त्रुटि से आगे स्पष्टीकरण होगा; केवल जब हम पूर्ण रूप से गलत दिशा में बढ़ेंगे तभी दर्शन काफी भ्रामक होगा। कीर्केगार्ड कभी भी अपनी वह दिशा नहीं खोता जिस ओर उसे बढ़ना चाहिये। हम इसे उसके जीवन में देख सकते हैं, और अगर हम इस पर विचार करें तो उसके विचारों की कमियों द्वारा हम शायद ही भ्रम में पड़ें।

स्वयं कीर्केगार्ड के लिए, इन खतरों का कोई महत्त्व नहीं था; ईसाई धर्म में पैर जमे होने के कारण, वह अपनी स्थिति को संक्षेप में समझाने में समर्थ हुआ। उन्होंने अपने को न तो कोई पैगम्बर के रूप में देखा, न उस धर्म प्रचारक के रूप में जो अधिकार से, ईश्वर से कुछ लाते हैं; प्रत्युत एक चिरयातनाग्रस्त के रूप में देखा, "मेरा काम आधिकारिक रूप से स्थान बनाना नहीं है, प्रत्युत यातना सहकर स्थान बनाना है।" वह यह भी जानता था कि "यह आसान है कि मैं ईसाई हो जाऊँ जबकि मैं ईसाई नहीं हूँ, लेकिन यह आसान नहीं है कि मैं ईसाई हो जाऊँ जबकि मैं ईसाई हूँ।"[१] शायद ही उस अवमिश्रित ईसाई धर्म का इतने सुगठित रूप से वर्णन किया जा सके जिससे हम बचपन से ही अनुप्राणित हैं। किन्तु उसने यह स्वीकार किया कि उसके लिए यह एकदम असम्भव है कि वह किसी व्यक्ति को किसी मत, धारणा या विचार को स्वीकार करने के लिए बाध्य करे। किन्तु एक काम मैं कर सकता हूँ, "मैं उन्हें ध्यान देने के लिए बाध्य कर सकता हूँ।"[२] इसी काम में उसने अपने जीवन को लगाया और अपने दर्शन को जीवित रखा और शालीनता और साहस दोनों का प्रदर्शन किया, जिनकी इसमें आवश्यकता थी।

उसके सबसे अधिक दुखद संघर्षों में से एक संघर्ष में उसकी यातना स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उसके जन्म-स्थान कॉपेनहेगेन से एक व्यंग्यात्मक पत्रिका निकलती थी, जिसका नाम था **कारसेयर**। इसमें लब्धप्रतिष्ठित व्यक्तियों की खिल्ली इतने विद्वेषपूर्ण ढंग से उड़ायी जाती थी कि अधिकांश उत्तरदायी लोग इसकी भर्त्सना करते थे, लेकिन किसी ने भी इसकी आलोचना करने का साहस नहीं किया, किन्तु इसने इसकी आलोचना की। कीर्केगार्ड इसके परिणामों से पूर्ण रूप से अवगत था। वह जानता था कि उसके प्रकाशनों की लोकप्रियता, उस पत्रिका की लोकप्रियता का मुकाबला नहीं कर सकती और कई महीनों तक सारे शहर में वह उपहास-पात्र बन जायेगा; और वास्तव में वर्षों तक सड़कों पर उसे लोगों ने खूब तंग किया। किन्तु जो वह प्राप्त करना चाहता था वह उसे मिल गया—उसने लोगों को ध्यान देने पर बाध्य किया। यह सत्य है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अधिकांश लोगों ने उसका मजाक उड़ाया, लेकिन कुछ लोगों ने उसे समझा और उसकी कृतियों और स्मृति को सँभाल कर रखा। संक्षेप में, उसने लोगों को गुस्सा दिलाया सचमुच में यह एक आधुनिक प्राणोत्सर्ग है।* केवल उसकी आन्तरिक महानता और निश्चिति ने उसे इसका सामना करने का वल दिया और उसकी डायरी से इस वात का पता चलता है कि घोर व्यथा और दुःख की कीमत पर उसने इसे प्राप्त किया। उसे प्राणसंकट का भय नहीं हुआ।

अपने सभी संघर्षों में उसने अपने पुरुष को अपने सन्देश से गौण समझा। अपने जीवन के अन्त में, कई वर्षों तक हिचकने के बाद, उसने एक दूसरी आलोचना करने का खतरा मोल लिया—अर्थात् उसने सुप्रतिष्ठित डेनिश लुथरन चर्च की आलोचना की। उसने इसके पदाधिकारियों पर यह आरोप लगाया कि वे दूसरे लोगों को तो ईसाई सद्‌गुणों का उपदेश देते हैं, लेकिन स्वयं अधिकार का प्रयोग करते हैं और काफी आराम से रहते हैं। फिर महान् कष्ट उठाकर, उसने लोगों को ध्यान देने के लिए वाध्य किया, अर्थात् उसने इस वार सम्भवतः और अधिक स्पष्ट रूप से यह दिखला दिया कि ईसाई होने का मतलव क्या होता है। ४२ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई—अपने समय से पूर्व वूढ़ा, जवकि उसने बैंक से सारे रुपये निकाल लिये थे और साथ ही अपने मतों के प्रसार में वह अपना स्वास्थ्य और वित्तीय साधन समाप्त कर चुका। लेकिन वह शान्ति से मरा और उसे उस समय इस वात की जानकारी थी कि उसे जो मिल सकता था, मिल गया और वह इस आशा में मरा कि जीवित रहने वाले लोग उस व्यक्ति के शब्दों को अधिक तत्परता से सुनेंगे जिसकी मृत्यु हो चुकी है—यह एक ऐसी आशा थी, जो काफी हद तक पूरी हुई। लेकिन उसने एक भूल की। उसका विश्वास था कि व्यक्ति या तो अनन्त अमूर्तकरण के चक्कर में फँस जाता है या धर्म की सत्ता से सदा के लिए वच जाता है—इस वात पर उसका ध्यान नहीं गया कि मनुष्य अस्तित्ववाद के चक्कर में भी फँस सकता है।

---

*संघर्ष का यह वृत्तान्त कीर्केगार्ड का अपना है, लेकिन श्री ई० एल० ग्रेड्म्डॉर्फ ने हाल में यह बताया है कि आरम्भ में कीर्केगार्ड सम्भवतः उस यातना की प्रत्याशा नहीं करता था, जिसके लिए पश्च-दर्शन में, अपनी आलोचना द्वारा प्रयत्न करता प्रतीत होता है। किन्तु चूँकि कीर्केगार्ड ने इसके यथार्थ अर्थ (पृष्ठ ११८ देखिये) को पाने के लिए अपने अतीत को हमेशा पुनर्जीवित किया, फिर भी उसकी आगे की समझ-बूझ—कि क्या उसने किया—संगत और विश्वसनीय प्रतीत होती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अभी तक हमने अस्तित्ववाद के भावात्मक पक्षों पर मुख्य रूप से ध्यान केन्द्रित किया है और अब हम उन पर लौट आयेंगे, क्योंकि इस पुस्तक का उद्देश्य यही दिखलाना है कि हमें उन निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए यह दर्शन कैसे सहायक है, जिन्हें हम स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु भावात्मक उपलब्धियों की सही रूप से समीक्षा करने में समर्थ होने के लिए, हमें इसके दोषों से भी अवगत होना चाहिये। कीर्केगार्ड के लिए जिन खतरों का कम महत्त्व है, उनका विस्तार समकालीन अस्तित्ववाद में भिन्न है, और ऐसा क्यों है, यह हम देख सकते हैं। नैतिकता और ईसाई धर्म को जीवित रखने के लिए कीर्केगार्ड एक विधि के रूप में अस्तित्ववादी उपागम का प्रयोग करता है; वह अस्तित्व (मनुष्य की वास्तविक अनुभूति) और तत्त्व (बाह्य सत्ता और अनुभवातीत सत्ता के साथ मानव-प्रकृति का सम्बन्ध) में सन्तुलन स्थापित करता है।* लेकिन एक बार जब स्वयं साध्य के रूप में अस्तित्ववाद का अनुशीलन किया जाता है तो केवल अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है और तत्त्व की अवहेलना कर दी जाती है—अर्थात् मानव प्रकृति में जो भी प्रतिबन्ध और सीमाएँ अन्तर्निहित होती हैं, उन सब की उपेक्षा की जाती है और अनुभूति का सही रूप में मार्गदर्शन नहीं हो पाता। इस प्रकार कीर्केगार्ड के उपदेश के प्रच्छन्न खतरों में काफी वृद्धि हो जाती है और वे सामने आ जाते हैं।

अस्तित्ववाद के इस रूपान्तरण और इसके कुछ आधुनिक प्रतिनिधियों के सम्बन्ध में हम दूसरे अध्याय में विचार-विमर्श करेंगे। लेकिन इसके भावात्मक तत्त्वों के साथ सम्पर्क न समाप्त हो जाये, इसके लिए पहले मैं इस बात पर विचार करना चाहूँगा कि अस्तित्ववादी विचारधारा की कुछ अतिवादी अभिव्यक्तियों का भी कीर्केगार्ड की महान् उपलब्धियों के अधिक कठिन पक्षों के साथ कैसे सम्बन्ध हैं। अतः अगला विश्लेषण सभी अस्तित्ववादियों की ओर निर्देश नहीं करता है, प्रत्युत मैं कहूँगा कि निरपेक्ष अस्तित्व की ओर करता है, अर्थात् उन अस्तित्ववादियों के सिद्धान्तों की ओर निर्देश करता है जिनका यह विश्वास है कि अस्तित्व विविक्ति में समझा जा सकता है और इसे विविक्ति करके हम निरपेक्ष, चरम ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

कीर्केगार्ड की मुख्य माँग यह है कि हमें "अगाध गर्त्त में छलाँग मारने" का जोखिम तो उठाना ही चाहिये; मनुष्य एक विशाल खाई द्वारा ईश्वर से पृथक्

---

*अस्तित्व और तत्त्व के बीच भेद के लिए पृष्ठ ११-२ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है; अतः अपने प्रयासों से न तो वह शुभत्व को प्राप्त कर सकता है न आस्था को; उसे अज्ञात में छलाँग मारने का जोखिम उठाना होगा।* फिर भी चूंकि मनुष्य और ईश्वर के बीच एक खाई है, अतः अगर जोखिम उठाया जाता है तो इसका अपना पुरस्कार मिल सकता है, क्योंकि ईश्वर के साथ यह सम्वन्ध स्थापित कर सकता है। लेकिन एक बार जब ईश्वर को अस्वीकार कर दिया जाता है, क्योंकि वह उस निरपेक्ष अस्तित्ववाद के अनुसार है जिसे निरीश्वरवादी होना चाहिये, तो सच तो यह है कि खाई का और किनारा लुप्त हो जाता है; वह खाई-रिक्तता अर्थात् पूर्ण शून्य-मात्र रह जाती है। इस प्रकार अवस्तुता (Le Néant, das Nichts) मुख्य अनुभूति हो जाती है, और चूंकि यह प्रधान है, अतः उत्कट रूप से इसे ग्रहण किया जाता है। मनुष्य अज्ञात में छलाँग मारने का जोखिम उठाने के बदले अवस्तुता में गोता लगाता है, क्योंकि इस प्रकार वह ईमानदारी से अपने भाव के अभ्यन्तर का सामना करता प्रतीत होता है।

अवस्तुता की यह स्वीकृति सम्भव हो जाती है क्योंकि विसंगति सम्प्रत्यय का एक भिन्न अर्थ हो जाता है। कीर्केगार्ड सबसे समर्थ आस्था-कृत्य उत्पन्न करने के लिए विसंगति पर बल देता है; उसके अनुसार जीवन या ईसाई धर्म की विसंगति से पूर्ण रूप से अवगत होना, उनकी सबसे अधिक सार्थक अनुभूति का तरीका है। कीर्केगार्ड का विश्वास है कि अस्तित्व की विसंगति को जानकर ही हम सभी सामान्य विचार को पीछे छोड़ते हैं और अपने भीतर उस सत्ता की खोज करते हैं जो धर्म का आधार और औचित्य है। लेकिन एक बार जब अनुभवातीत सत्ता को एकदम अस्वीकार किया जाता है, स्वयं विसंगति अन्तिम लक्ष्य बन जाती है, क्योंकि इससे इस बात की पुष्टि होती प्रतीत होती है कि हम ईमानदार हैं, अर्थात् भ्रमों के सामने झुके बिना हम यथार्थ रूप से सत्ता का सामना कर रहे हैं। विसंगति पर पहुँचना जीत है, और इसे सार्थक बनाने के लिए और आगे प्रयास नहीं किया जा सकता। विसंगति और गूढ़ता में तादात्म्य स्थापित कर दिया जाता है।

निरपेक्ष विरोधाभास में इसी प्रकार का रूपान्तरण होता है। कीर्केगार्ड के अनुसार यह आशा को वास्तविक अर्थ प्रदान करता है; उन सब विभीषाओं के बावजूद जिनकी प्रतीयमान निरर्थकता सृष्टि करती है, अनुभूति में एक गूढ़ भावात्मक तत्त्व है; यह तत्त्व विरोधाभास दूर नहीं कर सकता, क्योंकि इसकी

---

* इसके, और आगे के लिए पृष्ठ ५६-६० देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अनुभूति की जा सकती है, इसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, लेकिन यह विरोधाभास भावात्मक अनुभूति का मार्ग बन जाता है। विसंगति की विरोधाभासी प्रकृति से ही इस पर विजय प्राप्त की जाती है, क्योंकि इस बात का श्रेय विरोधाभास को प्राप्त है कि विभीषा और विसंगति दोनों उस सामंजस्य की ओर अग्रसर कर सकते हैं जो तर्कबुद्धि से परे है। लेकिन एक बार जब विसंगति को स्वीकार कर लिया जाता है और स्वयं इसके लिए इसका उपयोग किया जाता है तो कोई भी चीज जो विरोधाभासी है, उसका स्वागत किया जाता है, क्योंकि इन विरोधाभासों से इस बात की पुष्टि होती प्रतीत होती है कि हम विचार के सबसे अधिक निर्णायक परिणामों पर पहुँच गये हैं। इस प्रकार अनुभवातीत को अतर्कबुद्धि में परिणत कर दिया जाता है। अन्तिम अध्याय में इसके विभिन्न पक्षों पर हम विचार करेंगे, लेकिन अभी हम यह देख सकते हैं कि अतर्कबुद्धि पर बल देने का तात्पर्य क्या है। स्वयं इस सम्प्रत्यय का यह अर्थ है कि जो तर्कबुद्धि से परे है, लेकिन दो मुख्य तरीकों से इसका अर्थ स्पष्ट किया जा सकता है। यह या तो रहस्य के रूप में देखा जा सकता है, जो उस समय तर्कबुद्धि से परे अर्थ प्रकट करता है जब इसकी अनुभूति की जाती है—और यही है जो कीर्केगार्ड अर्थ लगाता है—या तर्कबुद्धि के पूर्ण निरर्थक विनाश के रूप में देखा जा सकता है, जिस रूप में निरपेक्ष अस्तित्ववादी इसे देखते हैं। यह विचारक हर जगह इसकी खोज करते हैं और वह जब इसे पा लेते हैं तो इस पर अत्यधिक बल देते हैं, जिससे तर्कबुद्धि का प्रभाव सम्पूर्ण रूप से समाप्त हो जाय।

इसके परिणामस्वरूप उनके दर्शन में हमारा सामना एक ऐसी अस्तित्ववादी स्थिति से हो जाता है जो कीर्केगार्ड की अस्तित्ववादी स्थिति के लगभग विपरीत है। अवस्तुता, विसंगति, अनुभूति के विरोधाभासी स्वरूप और अतर्कबुद्धि को भग्नाशा की ओर भी अवश्य ले जाना चाहिये। लेकिन जबकि कीर्केगार्ड हमें भग्नाशा का सामना करने के लिए बाध्य करता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि इसकी गूढ़ता से इस बात का पता चलेगा कि मनुष्य का सत्यता में विश्वसनीय आधार है, निरपेक्ष अस्तित्ववादी स्वयं निरर्थक भग्नाशा एक साध्य और मन की एक वांछित अवस्था के रूप में भी देखता है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी भग्नाशा सच्ची है, लेकिन इसे अपने मार्ग पर नहीं चलने दिया जाता, इसे दार्शनिक रूप से प्रस्तुत करने को आधार बना लिया जाता है। फिर भी, इस प्रकार इसकी अतिरिक्त गूढ़ता समाप्त कर दी जाती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विचार और अनुभूति के अन्तिम परिणाम के रूप में, भग्नाशा का तात्पर्य यह है कि भय और कम्पन "ऐइन्स्ट", मनुष्य के अस्तित्व के सबसे अधिक आधार-भूत गुण हो जाते हैं। इस प्रकार की विभीषा एक आवश्यक उपलब्धि के रूप में देखी जाती है, क्योंकि इसी के द्वारा मनुष्य अस्तित्व के स्वरूप की पूर्ण समीक्षा करने में समर्थ होता है। मन की इस स्थिति में जो लोग नहीं रहते, वे सभी सत्यता से विच्छिन्न समझे जाते हैं। अब कई व्यक्तियों के लिए यह निश्चय ही सत्य है कि भय उनकी सबसे मूल अनुभूति है और इस पर बल देना एक चुनौती हो सकती है जो हमारी वर्त्तमान स्थिति में विशेष महत्त्व रखती है। आत्मसन्तोष जितना आज खतरनाक है, उतना शायद ही कभी रहा है। लेकिन विभीषा पर बल देने से हम एकपक्षता की ओर अग्रसर होते हैं, क्योंकि ईसाई या किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसमें आस्था है, विश्वास और आशा, मन की अधिक आधार-भूत स्थितियाँ हैं। कीर्केगार्ड की भग्नाशा इन भावनाओं का मार्ग खुला रखती है, लेकिन अतिवादी अस्तित्ववाद इस मार्ग को रोकता है और इस प्रकार मनुष्य की प्रकृति के महत्त्वपूर्ण अंगों का बहिष्कार करता है। इसके बदले में, हम अक्सर उन विकर्षी विषयों का विकल्प पाते हैं—विशेष रूप से सार्त्र और उसके कुछ अनुयायियों में—जो हमें केवल घृणित वस्तु देखने देते हैं और इस प्रकार भग्नाशा को स्पष्ट रूप से एक ऊपरी आधार देते हैं। इस बात का तो अनुभव होगा ही कि भग्नाशा का वरण एक आसान मार्ग के रूप में भी किया जा सकता है, अगर प्रत्येक वस्तु निराशाजनक है तो हमें किसी प्रकार का कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं; हम आत्मसमर्पण कर सकते हैं।

सामान्य रूप में, हालाँकि सम्पूर्ण रूप में नहीं, अस्तित्ववाद इस खतरे से बच जाता है, क्योंकि भग्नाशा इसके परिणाम होने की अपेक्षा इसका स्रोत है। मुख्य रूप से इस दर्शन का विकास दो युद्धों के बीच के समय में हुआ और चूंकि मानवजाति पर मँडराते हुए महाविपत्ति के बादल यह अस्तित्ववादी बड़ी स्पष्टता से देखते हैं, अतः मनुष्य की सन्देहास्पद स्थिति और उसकी कमजोरी से वे परि-चित हैं। यह सत्य है कि नरम पड़ जाने का खतरा हमेशा बना हुआ है—उदा-हरण के लिए, जब हीडेगर नाजीवाद के सामने झुका और सार्त्र साम्यवादी हो गया—किन्तु यह अन्तिम नहीं है। चूँकि अस्तित्ववाद भग्नाशा से उत्पन्न होता है, अतः ऐतिहासिक स्थिति के प्रतीयमान दावे, मनुष्य की कमजोरी की जान-कारी—मृत्यु की जानकारी के पूरे हो जाते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भग्नाशा के निरन्तर सम्बलीकरण और मृत्यु पर केन्द्रित होने से विकृति उत्पन्न होती है और उन लक्ष्यों के लिए संघर्ष करने, जिन्हें वांछनीय समझते हैं, से अपने जीवन को सार्थक बनाने की दृढ़ता जाती रहती है। फिर भी मृत्यु का रहस्य—जन्म से भी अधिक रहस्यात्मक—उन सभी गलत धारणाओं को अवश्य ही अमान्य ठहरायेगा जो तर्कबुद्धि युग से चली आ रही हैं और जिनकी हमने चर्चा की है। * विशुद्ध तर्कनापरक विचार वैज्ञानिक तरीके से मृत्यु के कारणों की व्याख्या तो कर सकता है, लेकिन इस तथ्य का कारण कभी बता नहीं सकता कि किसी भी क्षण हमारी मृत्यु हो सकती है और हम ऐसे प्राणी हैं जो आज नहीं तो कल अवश्य ही मरेंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे जीवन की अवधि एकदम मनमाने ढंग से निश्चित कर दी गयी है और यह अबोधगम्य है जिससे तर्कबुद्धि की शक्तियाँ विफल हो जाती हैं। तर्कबुद्धिवादी को मृत्यु की या तो उपेक्षा करनी पड़ी या इसके महत्त्व को अस्वीकार करना पड़ा। मृत्यु पर बल देना कीर्केगार्ड और बाद के अस्तित्ववादियों के लिए सामान्य बात है। कीर्केगार्ड के अनुसार भी, हमारा भाव, मृत्यु की ओर उन्मुख एक अस्तित्व है, यह एक बीमारी है जो मृत्यु की ओर ले जाकर ही छोड़ेगी। लेकिन फिर भी एक तात्विक अन्तर है। कीर्केगार्ड के अनुसार मृत्यु एक प्रकार की चुनौती है, क्योंकि शाश्वत और अनन्त-काल से हमें इसकी अवश्यंभाविता का ज्ञान रहा है, जिससे निरन्तर हमें अपना ध्यान अनुभवातीत सत्ता की ओर लगाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अतिवादी अस्तित्ववादियों के अनुसार, मृत्यु उन सभी अभावात्मक अनुभूतियों का समर्थन करती है, जिन पर वे संकेन्द्रित करते हैं, यह इस बात का अन्तिम प्रमाण है कि जीवन निरर्थक है।

निरपेक्ष अस्तित्ववादियों को, जैसाकि हमने उन्हें संज्ञा दी है, आत्मनिष्ठ विधि का सही प्रयोग करने से रोका जाता है, क्योंकि वे वस्तुनिष्ठता का पूर्ण बहिष्कार करते हैं और भावना द्वारा सत्ता को सम्पूर्ण रूप से बदल डालते हैं। वे जिसे—अवस्तुता को अस्तित्व का केन्द्र मानते हैं, वह निश्चय ही एक भावना है जिसकी तीव्र अनुभूति होती है। हम रिक्तता अर्थात् अपने भीतर पूर्ण शून्यता की अनुभूति कर सकते हैं और यह ऐसी भग्नाशा की ओर ले जा सकती है कि विनाश को छोड़कर और कोई चीज सार्थक प्रतीत नहीं होती। फिर भी अवस्तुता के इस भाव को भूल से वाह्य सत्ता के सम्बन्ध में कथन नहीं समझ बैठना चाहिये। वाह्य सत्ता में हम केवल किसी वस्तु का अनुभव कर सकते हैं, रिक्तता एक

* अध्याय १ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ऐसे दिक् के रूप में ग्रहण की जाती है, जो वस्तुओं द्वारा सीमित है और उनके वैषम्य में है। अगर सचमुच में कोई वस्तु नहीं है तो इसका अर्थ है कि हम किसी वस्तु को ग्रहण नहीं करते। यह घिसी-पिटी बात लगती है, लेकिन यह भूल कि अवस्तुता को वाह्य तथ्य के रूप में ग्रहण कर सकते हैं, अधिकांश अस्तित्व-वादी विचारधारा की जड़ में है।

वाह्य सत्ता और आन्तरिक अनुभूति में निषेध के भिन्न कार्य हैं। भौतिक जगत् अथवा मनुष्य के ऐतिहासिक वृत्तान्त में निषेध का (जिससे "अवस्तुता" शब्द-निर्माण में सहायता मिलती है) विशुद्ध तार्किक कार्य हैं; यह अनास्तित्व की ओर कभी संकेत नहीं करता, प्रत्युत् वह हमेशा किसी ऐसी वस्तु की ओर संकेत करता है जिसका अस्तित्व है। उदाहरण के लिए, इस कथन को समझने के लिए, कि "वर्ग-वृत्त का अस्तित्व नहीं होता", मनुष्य को वर्गों और वृत्तों, दोनों की जानकारी प्राप्त करनी होती है; अगर दृढ़तापूर्वक कोई यह कहता है कि "निर-पेक्ष लोकतन्त्र का अस्तित्व नहीं होता", तो सिद्धान्त और व्यवहार में लोकतन्त्र के ज्ञान की पूर्व कल्पना की जाती है। लेकिन आन्तरिक अनुभूति में, निषेध किसी ऐसी वस्तु की ओर संकेत करता है, जो वास्तव में है; अस्ति और नास्ति मूल्य होते हैं, जैसे शुभ और अशुभ सौन्दर्य और कुरूपता दोनों समान रूप से सत्य हैं; भावात्मक तथा अभावात्मक भावनाओं में वैषम्य होता है, जैसे हर्ष और शोक, अभिरुचि और तटस्थता; हमें पूर्ण जीवन की भी अनुभूति हो सकती है, संज्ञाहीन रिक्तता की भी हो सकती है; भग्नाशा उतना ही सत्य है; जितना सन्तोष। निषेध तो इतना सत्य हो सकता है कि यह समस्त भावात्मक निश्चि-तियों को भी नष्ट कर दे। अस्तित्ववादी अपनी आन्तरिक अनुभूति को व्राह्य जगत् की चीज और इसकी व्याख्या के रूप में प्रायः देखते हैं; वे जगत् में अपनी भग्नाशा का प्रक्षेपण करते हैं और प्रत्येक वस्तु को इसके अंग के रूप में देखते हैं। चूंकि वस्तुनिष्ठता को अस्वीकार किया जाता है और किसी भी ऐसी वस्तु की उपेक्षा की जाती है जो वस्तुनिष्ठ रूप से समझी जा सकती है, अतः विश्व, मनुष्य, और निरपेक्ष सत्ता की वे सभी विशेषताएँ लुप्त हो जाती हैं, जो उन्हें वास्तविक बनाती हैं, अवस्तुता का विकास तब तक होता रहता है जब तक यह प्रत्येक वस्तु को निगल न जाय जैसाकि नीट्त्शे ने भविष्यवाणी की और हीडेगर इसकी पुष्टि करता है। अवस्तुता को छोड़कर और कुछ नहीं रह जाता।

फिर भी अस्तित्ववाद की भावात्मक जड़ों के साथ यह सम्बन्ध सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होता। अवतुस्ता-बोध के विकास की तीव्र अनुभूति होती है, और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह इतनी तीव्र अनुभूति होती है कि किसी भावात्मक उपलब्धि के लिए यह उत्कट इच्छा उत्पन्न करती है। इसकी अनुभूति एक धमकी के रूप में होती है जिसका सामना करना है। अतः सार्त्र और हीडेगर दोनों एक वास्तविक जीवन की माँग करते हैं अर्थात् एक ऐसी जीवन-पद्धति की माँग करते हैं जो हमारी सभी प्रकार की अज्ञानता और सहज कृतक-विश्वास के परे है और जो इस धमकी का सामना करती है। भग्नाशा और अवस्तुता की बढ़ती हुई अनुभूति को हमें एक ऐसे जीवन की ओर ले जाना चाहिये जो सचमुच में भावात्मक हो और जीने योग्य हो, तो निषेधात्मक या उन भयानक अनुभूतियों और अन्तर्दृष्टियों से छिन्न-भिन्न न हो सके, जिनसे, अगर हम ईमानदार हैं तो बच नहीं सकते।

यह सत्य है कि यह जीवन-पद्धति प्राप्त नहीं हो सकती और शायद ही, स्वयं निरपेक्ष अस्तित्ववादियों ने इसके बारे में बताया। फिर भी अपनी विचार-धारा के अन्तिम परिणामों को दिखला करके, वे उस तर्कबुद्धि युग के अति-रंजित तर्कबुद्धिवाद का सामना करते हैं, जो अतिरंजित अतर्कबुद्धि के साथ अभी भी हमारे साथ है और इस प्रकार वे हमें उन दोनों अतियों से अवगत कराते हैं, जिनसे हमें बचना होगा। हम निरपेक्ष तर्कबुद्धि और निरपेक्ष अतर्कबुद्धि के बीच से मार्ग बनाने में समर्थ बना दिये गये हैं और कुछ कम अतिवादी अस्तित्ववादी, कीर्केगार्ड का अधिक निकटता से अनुसरण करते हुए, मार्ग बतलाना शुरू करते हैं। आगामी दो अध्यायों में पहले हम निरपेक्ष अस्तित्ववाद पर विस्तार से विचार-विमर्श करेंगे और फिर मार्टिन ब्यूबर की ओर मुड़ जायेंगे, जिससे अस्तित्ववाद के एक दूसरे भावात्मक रूप को दिखलाया जा सके।

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सात

फ्रेन्च और जर्मन अस्तित्ववाद के कुछ रूप

समकालीन अस्तित्ववादी दर्शन का विकास कई प्रकार से हुआ है। फ्रांस में, जॉ पाल सार्त्र और उनके अनुयायी निरीश्वरवादी हैं, जैब्राइल मार्शल एक रोमन कैथोलिक है और अलबर्ट कामू का मानवतावाद सार्त्र के मानवतावाद से बिल्कुल भिन्न है। जर्मनी में मार्टिन हीडेगर और उसका सम्प्रदाय निरीश्वरवादी है, (कम से कम सभी व्यावहारिक उद्देश्यों से; वे भविष्य में एक नये धर्म की सम्भावना को स्वीकार करते हैं) लेकिन हीडेगर ने ईसाई विचारकों को काफी प्रभावित किया है जैसे रोमैने गार्डिनी को; और कार्ल जैस्पर्स ईश्वरवादी है और सामान्य रूप में धार्मिक, हालाँकि वे ईसाई नहीं हैं। इंग्लैण्ड में हर्बर्ट फार्मर, डोनॉल्ड मैक किनान, जान मैक मुर्रे जैसे मुख्य ईसाई विचारकों ने अस्तित्ववाद पर ध्यान दिया है। मार्टिन ब्यूबर अपने दर्शन को यहूदी विचारधारा पर आधारित करते हैं; निकोलस बर्डिव ईसाई तो हैं लेकिन सबसे स्वच्छन्द प्रकार के ईसाई हैं। यह संक्षिप्त नाम-निर्देशन, हालांकि किसी भी तरह सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है, फिर भी यह बतलाने के लिए तो पर्याप्त है कि प्रायः अस्तित्ववाद अव्यवस्थित तो रहा है, पर इसने एक नया मार्ग प्रशस्त किया है।

अस्तित्ववाद के विस्तृत क्षेत्र का विचार प्रस्तुत करने के लिए मैं एक बार फिर चाहता हूँ कि मैं निरपेक्ष अस्तित्ववाद पर अपने ध्यान को केन्द्रित करूं अर्थात्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मुख्य रूप से मैं सार्त्र और हीडेगर के सम्प्रदायों पर अपना ध्यान एकाग्र करूँगा। हालाँकि मैं कुछ अन्य विचारकों, विशेष रूप से जैस्पर्स की ओर भी संकेत करूँगा। जो ईसाई या धार्मिक हैं, वे सभी कम से कम कीर्केगार्ड की विचारधारा के कुछ अंश को उसी रूप में स्वीकार करते हैं। चूँकि हमने पहले ही उसके मत के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर लिया है, अतः उसके दूसरे सिरे के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने से, इस दर्शन के गूढ़ अर्थों को बतलाने में सहायता मिलेगी। यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि सम्पूर्ण अस्तित्ववाद का एक सामान्य आधार है, क्योंकि जिन कुछ तत्त्वों का उल्लेख किया गया है, वे फिर प्रकट होंगे। अगर हम इसके सामान्य आधार और इससे उत्पन्न कुछ सबसे अधिक व्याघाती निष्कर्षों से अवगत हैं तो हम अस्तित्ववादी चिन्तन-विधि को समझने में समर्थ होंगे और इस प्रकार हम उन विचारों को भी समझेंगे जो यहाँ शामिल नहीं किये जा सकते। इसके अतिरिक्त निषेधात्मक अतिवादी विचारों से उन भावात्मक उपलब्धियों को अच्छी तरह समझने में हमें सहायता मिलेगी जिनकी चर्चा हमने पहले की है और जिस पर हम दूसरे अध्याय में विचार करेंगे।

हमारी परिभाषा के अनुसार निरपेक्ष अतिस्तत्ववाद केवल अस्तित्व को दर्शन और चरमज्ञान का आधार बनाने का प्रयास है। इसका आधार यह विश्वास है, जैसाकि कई अस्तित्ववादी इसे इस प्रकार कहते हैं,—"तत्त्व के पहले अस्तित्व आता है और इस विश्वास से कई निष्कर्ष निकलते हैं।"

आरम्भ में यह कथन स्वाभाविक रूप से व्यक्ति के जन्म, उसके अस्तित्व की उत्पत्ति के रहस्य की ओर, जिसका हमने उल्लेख किया है,* हमारा ध्यान आकर्षित करता है और समस्त युगों के समस्त प्राणियों के सामान्य तत्त्व पर एकाग्र करने से सहज हमारे ध्यान से निकल जाता है। अधिकांश अस्तित्ववादी पास्कल और कीर्केगार्ड के सम्भ्रम को ही प्रतिध्वनित करते हैं और इसे और अधिक बल प्रदान करते हैं। तर्कनावाद को और भी अस्वीकार्य बना दिया जाता है लेकिन इस मूल्य पर कि जिन समस्याओं पर दर्शन सामान्यतः विचार करने का दावा करता है उनमें किसी भी समस्या का समाधान करने में यह असमर्थ बना दिया जाता है; अतर्कबुद्धिवाद एक सिद्धान्त की क्षमता वहन करने का साहस करता है, और निरर्थकता और भग्नाशा का मार्ग तैयार करता है। इस प्रकार, सार्त्र का एक अनुयायी जार्जस बैटली कहता है :

---

* पृष्ठ ५६ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अगर मैं इस विश्व में आने का विचार करूँ—जहाँ जन्म हो और फिर, पुरुष और स्त्री का मिलन हो, और मिलन की इस घड़ी में—एक विलक्षण संयोग इस आत्मा की सम्भावना का निश्चय करता है कि मैं हूँ; सचमुच में यह मात्र सत्ता की अविवेचित असम्भाव्यता है, जिसके बिना मेरे लिए, किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहेगा। उस श्रृंखला में थोड़ा भी परिवर्त्तन करने से, जिसकी मैं संज्ञा हूँ और उस आत्मा के स्थान पर जिसके लिए मैं स्वयं उत्सुक हूँ, कुछ और ही होता, और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, केवल अवस्तुता रह जाती, उसी प्रकार पूर्ण, जिस प्रकार कि मेरी मृत्यु हो गयी होती।

मैंने कुछ हद तक यह दिखलाने के लिए उद्धरण प्रस्तुत किया है कि इस विचार में भावात्मक तत्त्व—जिससे हम जन्म के रहस्य से अवगत होते हैं और अल्पज्ञता से बचते हैं—किस प्रकार धीरे-धीरे उन विरोधाभाषी तत्त्वों से अत्यधिक प्रभावित हो जाता है, जो तार्किक तो हैं, लेकिन शायद ही इनका कुछ अर्थ निकलता हो। सुस्पष्ट रूप से मैं केवल अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में विचार-विमर्श कर सकता हूँ न कि अपने अनास्तित्व के सम्बन्ध में, क्योंकि अगर मेरा अस्तित्व नहीं है तो मैं "मैं" नहीं कह सकता। अगर किसी और के मूल्य पर अस्तित्व की महत्ता बढ़ानी है तो महत्ता के ऐसे गुप्त स्थान के परिवर्त्तन होने अनिवार्य हैं। चूंकि इसमें अन्तर्वस्तु का अभाव है अतः अपरिहार्य रूप से यह प्रतीत होता है कि यह कुछ रहस्यात्मक गुण प्राप्त कर लेता है। किन्तु चूंकि किसी भी यथार्थ रहस्यवाद के एकमात्र सम्भावित स्रोत अर्थात् अनुभवातीत सत्ता का बहिष्कार किया जाता है अतः यह रहस्यवाद अस्पष्ट और अनिश्चित होगा। रहस्यवाद में कोई अन्तर्वस्तु होनी चाहिये, जो प्रतिपल से अनुभवातीत हो; विरोधाभासों की सहायता से, एक ही प्रकार के भाव का केवल आह्वान करना अपर्याप्त है।

अस्तित्व की विविक्ति सामान्य रूप से इस बात की अपेक्षा करती है कि एक व्यक्ति पर एकान्तिक रूप से ध्यान दिया जाय। विश्व के साथ हमारा तत्त्वतः सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध सामान्य मानवीय प्रकृति और उन सामान्य नियमों से है जिन पर हम विश्वास कर सकते हैं। साथ ही, यह भी सत्य है कि आन्तरिक अनुभूति पर आधारित हमारी प्रकृति के पूर्ण ज्ञान से वैयक्तिक सहभागिता की आवश्यकता होती है और इस प्रकार हमारे लिए सत्ता सम्पूर्ण रूप से सत्य होती है। हमें बार-बार इस दावे की ओर संकेत करना पड़ता है कि "व्यक्ति सत्य है।" लेकिन निरपेक्ष अस्तित्ववाद में इस दावे का रूपान्तरण "व्यक्ति ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सत्य है" में हो जाता है और यह दावा किया जाता है कि मैं अपने अस्तित्व के सिवा और कुछ नहीं जान सकता। फिर भी यह स्पष्ट रूप से गलत है; अगर यह गलत न हो तो आन्तरिक अनुभूतियाँ असम्भव हो जाएँ। हम दूसरों के साथ मिलने से अर्थात्—"तुम" से मिलने से, अपने अस्तित्व अर्थात् "मैं" से अभिज्ञ हो जाते हैं जैसाकि हम दूसरे अध्याय में देखेंगे; क्योंकि हमारी आत्मचेतना अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं की अनुभूति से जागृत होती है, इसलिए वे सभी हमारे लिए एक साथ यथार्थ हो जाते हैं। अगर पूर्ण विवक्ति में हमारा विकास हो तो हम मानवीय मन का विकास नहीं कर सकते और हमारा अस्तित्व अचेतना में हमारे लिए अवगुण्ठित रहेगा—अर्थात् यह अज्ञात हो जायगा। विकसित चेतना की अवस्था में भी हमारा अस्तित्व अन्य कई अनुभूतियों की अपेक्षा अधिक रहस्यात्मक रहता है, उदाहरण के लिए, नैतिकता को समझना अधिक कठिन हो जाता है। उस वैयक्तिक महत्ता का, जो हमारी अनुभूति को निर्दिष्ट करने के लिए महत्त्वपूर्ण है उस समय विरूपण हो जाता है जब किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु के अस्तित्व से व्यक्ति को पृथक् करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

लेकिन इस महत्ता के भावात्मक पक्ष से हमें और भी बहुमूल्य ज्ञान प्राप्त होता है। जन्म के रहस्य से इस बात का पता चलता है कि हम अपने अस्तित्व को चुनने में असमर्थ हैं; यह हम पर लादा गया है। फिर भी अस्तित्व की पूर्ववर्तिता में आस्था को न्यायोचित बनाने के लिए, अस्तित्ववादियों को चाहिये कि वे इसे किसी अर्थ में अपने वरण की वस्तु बनाएँ और वे इस बात को विश्वसनीय रूप से दिखलाते हैं कि हमारे अस्तित्व का कितना अंश यथार्थ रूप से हमारे ऊपर निर्भर करता है। सार्त्र यह उदाहरण प्रस्तुत करता है: "वरण के बिना मैं अशक्त हो सकता हूँ, लेकिन जिस रूप में मैं अपनी अशक्तता मानता हूँ उस रूप में मैं अशक्त नहीं हो सकता, (जैसे 'असहिष्णुता,' 'नम्रता', 'प्रच्छन्न होना', 'सबके सामने प्रदर्शित करना' आदि) मैं अपनी सत्ता में स्वयं का वरण नहीं करता, प्रत्युत सत्ता बनने की रीति में वरण करता हूँ।" वह कहता है कि "मेरे अतीत के साथ भी यही बात है; यह निर्विकार रूप से निर्धारित प्रतीत होता है, लेकिन इसके प्रति जो मैं अभिवृत्ति ग्रहण करता हूँ, उससे मैं इसे रूपान्तरित कर सकता हूँ।" यह बाह्य वस्तुओं के प्रति कीर्केगार्ड की अभिवृत्ति का स्मरण कराता है, जैसे सामाजिक भेद, जिन्हें अर्थ निर्णय से ही सार्थक बनाना होगा, जो एक ऐसी क्रिया है जिसे "पुंनरावृत्ति" शब्द के विशेष प्रयोग से इस दावे में व्याख्या करने में उसे सहायता मिलती है कि हमें अपने अतीत को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निरन्तर रूप से दोहराना चाहिये जिससे पिछली अनुभूतियों के प्रकाश में इसे रूपान्तरित किया जा सके और इस प्रकार निरन्तर रूप से इसे अधिक से अधिक अर्थ प्रदान किया जा सके।

फिर भी चरम सत्ता के बारे में कहने की इच्छा भी यहाँ एक अड़चन है। सार्त्र किसी के अस्तित्व के बारे में अर्थ प्रतिपादन करने की सम्भावना इस प्रकार व्यक्त करता है : "पहले मनुष्य है—उसके बाद ही वह कुछ है। मनुष्य को अपने तत्त्व का स्वयं निर्माण करना होगा।" या इसे और भी अधिक स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है : "मनुष्य नहीं है प्रत्युत वह स्वयं का निर्माण करता है।"[१] संक्षेप में वह इस बात का दावा कर रहा है कि हम अपनी मानवीय प्रकृति के विभिन्न पक्षों को अधिकाधिक रूप से समझ करके अपने व्यक्तियों का केवल विकास नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत सम्पूर्ण रूप से और स्वेच्छा से स्वयं का निर्माण कर रहे हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि अपने अस्तित्व की अपेक्षा अपने तत्त्व के सम्बन्ध में वरण करने का हमारा कुछ अधिक अधिकार है; हम मानववाणी के रूप में कार्य करते हैं, चाहे हम कुछ भी करें। हम अपने अन्दर या तो मानवता का विकास करते हैं, उसे शक्ति प्रदान कर सकते हैं और उसे शुद्ध कर सकते हैं, या इसे निम्नीकृत कर सकते हैं और इसे प्रायः समाप्त कर सकते हैं, लेकिन जैसाकि फ्रांसीसी आलोचक प्रायः कहते हैं, हम किसी भी प्रयास से स्ट्राबेरी या मटर या बिल्ली नहीं बन सकते।

यह भूल उसी प्रकार की है जिस प्रकार कि हम तर्कना को निरपेक्ष समझने की करते हैं, जिसके सम्बन्ध में हमने प्रथम व्याख्यान में विचार-विमर्श किया है। तर्कबुद्धि युग ने ज्ञान की सीमाओं की उपेक्षा की; और वे सब अधिक उपेक्षा करते हैं जो अभी भी इससे चिपके हैं, निरपेक्ष अस्तित्ववादी भी इन सीमाओं की उपेक्षा करते हैं और इनके अतिरिक्त मानवीय क्रियाओं के सम्भावित क्रियाओं की भी उपेक्षा करते हैं। चूंकि वे तर्कबुद्धि को अस्वीकार करते हैं, अतः जिन लोगों ने तर्कबुद्धि को अनावश्यक महत्त्व दिया है उन लोगों की अपेक्षा अपनी शक्तियों की सभी वर्त्तमान सीमाओं को समाप्त करना वे आसान समझते हैं। निरपेक्षता को प्राप्त करने के लिए गलत प्रकार का प्रयास करने से हम सभी वास्तविक वस्तुओं, विचार भाव और कार्य की वर्त्तमान स्थितियों से दूर चले जायेंगे; उचित प्रकार के प्रयास से, कीर्केगार्ड की तरह, हमें उनसे निरपेक्ष सत्ता की अनुभूति का अवसर प्राप्त होगा और इस पर विचार करते समय उन्हें मार्गदर्शन का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साधन बनायेंगे। गलत प्रयास सत्ता की अवहेलना करता है और इसे विकृत करता है, उचित प्रयास इससे श्रेष्ठ होता है।

निरपेक्ष अस्तित्ववादी एक ऐसे युग का विद्रोह करते हुए जो नियतत्ववाद से प्रभावित है, मनुष्य की पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित करना चाहता है, और उनका यह दृढ़ कथन कि वह स्वयं का निर्माण कर सकता है, इस बात को सिद्ध करता है। सार्त्र इस बात पर बल देता है—"Dieu n' existe pas", अतः मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है। स्वतन्त्रता पर इस प्रकार का बल देना नियतत्ववाद के विरुद्ध सही प्रतिक्रिया हो सकती है; लेकिन आगे वह इस स्वतन्त्रता को नुकसान पहुँचाता है, जिसके लिए वह सफाई देना आरम्भ करता है।

इसमें सन्देह नहीं कि मानवीय स्वतन्त्रता वास्तविक है; हमने पहले भी यह कहा है कि इसके मनोवैज्ञानिक रूप में भी, हमें यह नहीं समझना चाहिये कि यह उसका स्थान ले रहा है,* अर्थात् हमें अगर मनुष्य को समझना है तो स्वतन्त्रता से आरम्भ करना होगा। इसलिए यद्यपि स्वतन्त्रता पर बल देने का भी महत्त्व है फिर भी इसे सीमाविहीन समझना महान् भूल है, क्योंकि यह न केवल बाह्य अवस्थाओं से सीमित है (इन पर हम जल्द ही विचार करेंगे,) प्रत्युत मानवीय अस्तित्व के तत्त्व से भी अधिक सीमित है। स्पष्टतः सम्प्रत्यय को लायसेंस या स्वेच्छाचारिता में अपभ्रष्ट नहीं होने देना चाहिये; इसे, जैसाकि हमने देखा है उत्तरदायित्व, नैतिकता और मौलिक मूल्यों और मानकों, सत्य और प्रेम के सम्पूर्ण क्षेत्र से हमें परिचित कराना चाहिये। हम तभी स्वतन्त्र रह सकेंगे जब हम उन कार्यों का वरण करेंगे जो स्वतन्त्रता को अर्थ प्रदान करते हैं और इसकी अभिवृद्धि करते हैं; अगर हम केवल जैसा चाहते हैं वैसा करेंगे तो हम भीतर या बाहर की अलक्षित बाध्यताओं के वशीभूत हो जा सकते हैं और इस प्रकार हम फिर अपनी स्वतन्त्रता खो बैठेंगे। स्वतन्त्रता को असीमित और इस प्रकार अपरिभाषित देखने से यह निरर्थक हो जायेगी।

हमारे लिए स्वतन्त्रता का अस्तित्व दो रूपों में है, जिन्हें हम कुछ विरोधाभाषी रूप में कह सकते हैं "वरण-स्वातन्त्र्य" और "स्वतन्त्रता-वरण।" अगर हम स्वतन्त्र हैं तो हमें वरण करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये लेकिन या तो इसे हम इस रूप में वरण कर सकते हैं जो रूप यथार्थ रूप से हमें स्वतन्त्र करता है या एक गलत रूप में वरण कर सकते हैं जिससे हम फिर गुलाम बनते हैं। स्वतन्त्रता की सम्भवतः सबसे अच्छी परिभाषा इस रूप में दी जा सकती है कि जिसमें

* पृष्ठ ६ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हम सम्पूर्णतः संकल्प स्वातंत्र्य से कार्य करते हैं, लेकिन अगर हमें फिर गुलाम नहीं बनना है तो हमें अपनी यथार्थ प्रकृति के अनुसार कार्य करने की चाह होनी चाहिये जिससे इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो सके; अन्यथा हम यह पायेंगे कि हम ऐसे कार्यों को करने के लिए बाध्य हो जायेंगे जो हमारी प्रकृति के विरुद्ध हैं। उदाहरण के लिए, अगर हम धन या शक्ति में वरण करते हैं तो यह वरण हमें गुलाम बनाता है, क्योंकि यह हमें ऐसे कार्यों को करने के लिए बाध्य करता है जो हमारी वास्तविक मानवता के विरुद्ध हैं; जितना अधिक हम इस वरण के अनुसार काम करते हैं उतना अधिक प्रारम्भिक अभिव्यक्ति से इतर हमारी प्रकृति में किसी अन्य को देना हमारे लिए असम्भव हो जाता है। तत्त्व शब्द हमारी यथार्थ प्रकृति की ओर संकेत करता है। कीर्केगार्ड ने इसकी परिभाषा नैतिक-आत्मा के रूप में दी थी और निश्चय ही इसका अधिक विस्तार करने की आवश्यकता है, लेकिन ठीक यही महत्त्वपूर्ण विस्तार है, जो असम्भव बना दिया जाता है, अगर तत्त्व की अवहेलना की जाय और स्वतन्त्रता को असीमित रूप में देखा जाय—अर्थात् यह तो उसी प्रकार है जिस प्रकार परिभाषा को चुनौती देने की बात है। इस प्रकार निरपेक्ष अस्तित्ववादी केवल यही मानते हैं कि हमें वरण करना चाहिये, वे यह नहीं मानते कि हमें उचित प्रकार की स्वतन्त्रता और कार्य का भी वरण करना चाहिये।[1]

चूंकि "अस्तित्व" शब्द में वह ऐतिहासिक स्थिति शामिल है जिसमें हम अपने को पाते हैं, अतः अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता की बाह्य सीमाओं पर ध्यान देने के लिए विवश हो जाते हैं। हीडेगर के अनुसार—हमारी सत्ता "एक ऐसी सत्ता है जो किसी ऐतिहासिक स्थिति में डाल दी गयी है" जिससे हम बच नहीं सकते। अपनी स्वतन्त्रता को बचाने के लिए हमें अपनी स्वेच्छा से इस स्थिति को स्वीकार करना पड़ता है; चूंकि हम इसमें परिवर्त्तन नहीं कर सकते, अतः इसे हमने अपने अस्तित्व में शामिल करके अपना बना लिया है। इसके अतिरिक्त इस अभिवृत्ति में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है; अगर हम किसी ऐसी चीज के लिए निरन्तर संघर्ष करते हैं, जिसमें हम परिवर्त्तन नहीं कर सकते तो हम अपनी शक्ति बरबाद करेंगे और सम्भवतः अपने जीवन को भी बरबाद करेंगे; हमें एक ऐसी चीज की मान्यता पर अपने प्रयासों को आधारित करना होगा जो अपरिवर्त्तनीय है। फिर भी, हमें बाह्य बाध्यताओं के विरुद्ध संघर्ष करना होगा, जिससे हम उस मात्रा को खोज निकालें—जो शायद ही बिल्कुल स्पष्ट है—जिसमें हम अपनी स्थिति में परिवर्त्तन ला सकें और अगर ऐसा नहीं हुआ तो हम बहुत आसानी से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रत्येक स्थिति से हार मान जायेंगे और इससे हमारे गुण विकृत हो जायेंगे। लेकिन निरपेक्ष अस्तित्ववादी इस प्रकार संघर्ष नहीं करते। सच तो यह है कि वे इस ऐतिहासिक स्थिति का पूर्ण रूप से सामना नहीं करते, वे केवल उसी को अंगीकार करते हैं जो उनके दर्शन का किसी प्रकार अंग है—यथा, भग्नाशा। वे अपनी भग्नाशा का वाह्य सत्ता में प्रक्षेपण करते हैं, जैसाकि हमने पहले कहा है, और तब भग्नाशा को स्वीकार करके ऐतिहासिक स्थिति को अपना बना लेते हैं। "मेरा भय स्वतन्त्र है और यह स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है, मैं अपनी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता को अपने भय में रखता हूँ और मुझे इसके लिए स्वतन्त्रता है।"[1]

प्रगट रूप से, इस स्थिति को विवादग्रस्त या अभी निराशाजनक रूप में देखना अनुचित नहीं है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि निरपेक्ष अस्तित्ववादी वास्तविक ऐतिहासिक स्थिति के साथ न्याय नहीं कर पाते। हमने पहले इस बात का उल्लेख किया है कि हीडेगर और सार्त्र के राजनीतिक निर्णय अस्पष्ट हैं। वे अनिश्चित भी हैं। हीडेगर किसी समय के नाजी हो गये और बाद में उन्होंने नाजीवाद की निन्दा की; सार्त्र साम्यवादी बने और बाद में उन्होंने दल को छोड़ दिया। उन्होंने इस स्थिति को अपना नहीं बनाया, इसके सामने आत्म-समर्पण किया, क्योंकि उनके ऐतिहासिक निर्णय में किसी उचित आधार का अभाव था। इसके अतिरिक्त अधिकांश निरपेक्ष अस्तित्ववादी, प्राकृतिक विज्ञान पर कम ही ध्यान देते हैं। हीडेगर ध्यान तो देता है, लेकिन इसके सम्बन्ध में उसके कथन संगत होने की अपेक्षा रहस्यमय हैं। इस प्रकार, हमारी वर्त्तमान स्थिति के अधिकांश महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर विचार नहीं हो पाता।

इन सारी भूलों का कारण यह है कि वस्तुनिष्ठता को आत्मनिष्ठ विधि का सहायक नहीं बना पाते। अस्तित्ववादियों द्वारा उन दार्शनिकों की अवहेलना करने से, जो तत्त्व पर एकाग्र करते हैं, सामान्य रूप में अस्तित्ववाद के गुणों और इसके निरपेक्ष रूप में दोषों का वहुत ही स्पष्ट रूप से पता चलता है। यह सत्य है कि केवल तत्त्व पर एकाग्र करने से हम अमूर्तकरण की ओर अग्रसर होते हैं और इस प्रकार दर्शन को जीवन से अलग कर देते हैं। इस प्रकार के दर्शन की ठीक ही आलोचना की जाती है; अगर इसे जीवित होना है तो अस्तित्व के साथ तत्त्व को मिलना होगा। फिर भी तत्त्व को छोड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि अगर ऐसा किया जाता है तो अस्तित्व सारहीन हो जाता है। एक सम्पूर्ण अपरिभाषित प्राणी के रूप में, अर्थात् भौतिक रूप में जिसका रूपान्तरण किसी भी वस्तु में हो सकता है, मनुष्य के सम्बन्ध में विचार करना निश्चय ही गलत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

है; वह मानव-प्राणी क्यों कहलाता है, इसके कुछ कारण हैं और उसका मानव-पन उसके प्रयासों का आधार बनाया जा सकता है और उसे बनाना भी चाहिये। हमारा सामना एक ऐसी बाह्य-सत्ता से हो जाता है जिसके अनुकूल हमें अपने जीवन को बनाना है और इसे उसी प्रकार समझना है, जिस प्रकार ऐतिहासिक स्थिति को। अगर तत्त्व लुप्त हो जाता है तो उसके साथ ऐसी प्रत्येक साकार वस्तु भी समाप्त हो जाती है, जो हमारे अस्तित्व के बोध का मार्गदर्शन कर सके—जो मनुष्य स्वतन्त्रता, अनुभवातीत सत्ता, बाह्य-सत्ता और ऐतिहासिक सत्ता की विशेषताएँ हैं।

इस प्रकार इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि सार्त्र अपने को पूर्ण शून्य-वाद में डाल देता है। वह यह कहने के लिए बाध्य हो जाता है: "सभी वर्त्तमान प्राणियों का जन्म अकारण हुआ है, निर्बल बनकर रहता है और अकस्मात उसकी मृत्यु हो जाती है...मनुष्य एक निरर्थक भावावेश है। हमारा जन्म लेना निरर्थक है और हमारा मरना निरर्थक है।" जैसाकि नीट्शे ने ठीक ही अनुमान लगाया कि ईश्वर के बिना मनुष्य स्वयं ईश्वर बनने का प्रयास करेगा, लेकिन यह भी सार्त्र के लिए निरर्थक हो गया है; उसके अनुसार: "मानवीय सत्ता किसी ऐसे आधार के बिना ही ईश्वर बनने का विशुद्ध प्रयास है जिस पर इस प्रयास को आधारित किया जा सके और बिना किसी मतलब के वह इस प्रकार का प्रयास करता है।"[1] चूंकि किसी अन्तर्वस्तु की मात्र सम्भावना को अस्वीकार किया गया है, अतः अवस्तुता के सिवाय और कुछ नहीं रह सकता। इसी प्रकार हीडेगर कहता है: "अस्तित्व के क्रोड़ में, अवस्तुता विलीन हो जानेवाली अवस्तुता है।"[2] इस आधार पर, यह उस व्यक्ति को ही विसर्जित करती है, जिसे अमूर्तिकरण से बचना था। साइमन डी ब्यूवर का विचार है: "किसी दर्पण में व्यर्थ ही मैं अपने आप को देखता हूँ, अपनी कहानी स्वयं कहता हूँ, मैं किसी सम्पूर्ण वस्तु के रूप में अपने आप को कभी समझ नहीं सकता, मैं अपने आप में रिक्तता का अनुभव करता हूँ जो अपने आप में हूँ, मैं अनुभव करता हूँ कि मैं नहीं हूँ।"[3]

हीडेगर के लिए, चेतना की भी समस्या उत्पन्न होती है, लेकिन इससे भी वही निष्कर्ष निकलते हैं। विश्व के प्रति चेतनशील होकर ही हम इससे अभिज्ञ होते हैं और इस प्रकार हीडेगर यह कहने का अधिकारी समझता है कि "सत्ता चेतना में है" और इस तथ्य से ही "सामान्यत रूप से एक सत्ता...सम्प्रत्ययन करना" सम्भव होता है।[4] देखने पर यह ज्ञानमीमांसीय कथन-सा लग सकता है कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"मन तत्काल वस्तुओं के सम्बन्ध में नहीं जानता है, प्रत्युत उनके बारे में जो विचार हैं उनकी मध्यस्थता से जानता है।"[१] परन्तु यह संस्कार भ्रामक है; ज्ञानमीमांसा की उपेक्षा की जाती है, हीडेगर स्वयं इस चेतना को समझना चाहता है। लेकिन हम चेतन तभी होते हैं जब हमें किसी वस्तु की चेतना होती है; जिन वस्तुओं की हमें चेतना है, उससे ही चेतना यथार्थ होती है; इसे उसी रूप में समझा नहीं जा सकता। अतः ऐसा करने के प्रयत्न से अनिवार्यतः पूर्ण अवस्तुता में दृढ़ विश्वास जागता है। सार्त्र इस निष्कर्ष पर पहुँचता है : "इस प्रकार की सत्ता में, जिसे ज्ञान कहा जाता है, जिस एकमात्र सत्ता का सामना हमारा होता है, वह सनातन रूप से ज्ञान है। ज्ञाता का अस्तित्व नहीं होता, उसे नहीं समझा जा सकता...ज्ञात की विद्यमानता अवस्तु की विद्यमानता है।[२] इस स्थिति में सुधार लाने के लिए सार्त्र चेतना की भी उपेक्षा करता है; मामला और भी उलझ जाता है, जब वह कहता है कि चेतन संविमर्श हमेशा बनावटी होता है...जब मैं संविमर्श करता हूँ तो मामला पहले ही तय हो जाता है...जब तक कि संकल्प बीच में आ पड़े, निर्णय पहले ही ले लिया जाता है।"[३] जब हम इस बात का निर्णय करते हैं कि क्या करना है तो हम अपने को धोखा तो दे सकते हैं......लेकिन चेतन संविमर्श के बिना दर्शन का कभी विकास कैसे किया जा सकता है ?

वास्तव में यही रिक्तता है जिसकी नीट्शे ने भविष्यवाणी की, ऐसी शून्यता है जो सब कुछ लील जाती है। हीडेगर के कथनानुसार : "अवस्तुता अधिक से अधिक अवस्तुता की सृष्टि करने के कार्य में लगी है।" लेकिन क्या यही अवस्तुता जिसका अभिज्ञान इसलिए अमूल्य लगा कि यह हमें "एक प्रामाणिक जीवन" व्यतीत करने की चुनौती देती है ? इस अवस्तुता से बचने का कोई साधन यह प्रस्तुत नहीं करती और इससे प्रामाणिक जीवन नष्ट होने की आशंका भी उत्पन्न होती है, क्योंकि यह अपनी वास्तविक स्थिति का सामना करते समय मिलनेवाली शून्यता नहीं है। यह अधिक निरपेक्ष अस्तित्ववादी की अपनी सृष्टि है। इन अतिवादी निष्कर्षों से इस बात का पता चलता है कि हमें इस रिक्तता को वहाँ देखना चाहिये जहाँ यह वास्तविक रूप से है।

सार्त्र इस असीम अवस्तुता से बचने का प्रयास करता है; वह मनुष्य की मर्यादा बचाना चाहता है और उसका उत्तरदायित्व स्थापित करना चाहता है। हमने पहले इस प्रयास की ओर संकेत किया है और कहा है कि यह असफल रह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जाता है क्योंकि अनुभवातीत सत्ता वहिष्कृत रहती है।* लेकिन चूंकि यह प्रयास काफी सच्चा है, अतः यह असफलता वास्तव में कारुणिक है, क्योंकि सार्त्र स्वयं उस समय इस बात को स्वीकार करता है जब वह अपनी भग्नाशा की व्याख्या करने के लिए इसका प्रयोग करता है।

"अगर मनुष्य वही है जिसका निर्माण वह स्वयं करता है और अगर वह स्वयं का निर्माण करने में सम्पूर्ण जाति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर वहन करता है, अगर न तो कोई मूल्य है न प्राग्नुभव निर्धारित नैतिकता, लेकिन अगर प्रत्येक मामले में, बिना किसी आधार, किसी मार्गदर्शन के अगर हमें अकेले ही निर्णय करना है तो फिर चिन्तित हुए बिना कैसे रह सकते हैं जबकि हमें कार्य करना है? हमारे प्रत्येक कार्य से विश्व का अर्थ और विश्व में मनुष्य का स्थान खतरे में पड़ जाता है; चाहे हम न चाहें तो भी प्रत्येक कार्य से हम विश्वजनीन मूल्यों का सोपान बनाते हैं; तब यह कैसे माना जा सकता है कि ऐसे पूर्ण उत्तरदायित्व के समक्ष हम भयाक्रान्त नहीं होंगे?"[१]

एक बार फिर मैंने कुछ विस्तार से उद्धरण प्रस्तुत किया है क्योंकि यह अवतरण प्रकट रूप से "अगर" का खण्डन करता है जिससे सार्त्र आरम्भ करता है। वह यह मान लेता है कि हम पूर्ण परिणाम प्राप्त नहीं कर सकते; क्योंकि मनुष्य स्वयं का निर्माण करता है; उसका "पूर्ण" उत्तरदायित्व है। लेकिन क्या "पूर्ण" उत्तरदायित्व सम्भव है? शायद ही यह विश्वसनीय है कि एक व्यक्ति "सम्पूर्ण जाति"—"सभी के लिए" निर्णय करे क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने बारे में निर्णय करना होता है जैसाकि सही अस्तित्ववाद बतलाता है। हमारे कार्य इतने गलत या उग्र हो सकते हैं कि उनसे कई लोगों के लिए, या किसी सम्पूर्ण समाज के लिए भी विश्व का अर्थ और विश्व में मनुष्य का स्थान खतरे में पड़ सकते हैं; लेकिन अगर अर्थ और मनुष्य के स्थान दोनों का सचमुच में अस्तित्व है तो किसी भी व्यक्ति का कोई कार्य उन्हें नष्ट नहीं कर सकता। हम निश्चय ही किसी निरपेक्ष अनुभवातीत सत्ता के प्रति उत्तरदायी हैं और अपने कार्यों के लिए भी पूर्णरूप से उत्तरदायी हैं जिनमें अन्य लोगों के लिए भी उत्तरदायित्व शामिल हो सकता है। लेकिन यह निरपेक्ष हैं जिन्हें सार्त्र स्वीकार नहीं करता, अतः वह इनके स्थान पर एक बाह्य असीम निरपेक्षता लाता है जिसका कोई अर्थ नहीं निकलता क्योंकि हम ईश्वर नहीं हैं। हम जिन्हें उचित मूल्य समझते

---

* पृष्ठ ८६-७, देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हैं उन्हें अपने कार्यों से मजबूत या कमजोर बना सकते हैं लेकिन अन्य लोगों द्वारा इनकी स्वीकृति और इस प्रकार इनकी विश्वजनीनता हम पर निर्भर नहीं करती।

इसके अतिरिक्त, इस दर्शन में ऐसी कोई चीज नहीं जो हमें अपने मन को किसी क्षण बदलने से रोके और इस प्रकार हमारे कार्य जो अर्थ प्रकट करते प्रतीत होते हैं, उन्हें फिर वह अमान्य ठहराये—वास्तव में ऐसी कोई चीज नहीं है जो पूर्ण अनुत्तरदायित्व को रोके। सार्त्र भी कहता है : "निरन्तर अपने को चुनने के लिए मैं बाध्य कर दिया गया हूँ"...अर्थात् कोई भी वरण एक क्षण के लिए ही किसी को बाँधता है। उसके कथन एक ऐसे व्यक्ति की भग्नाशा के हृदयस्पर्शी क्रन्दन हैं, जो अनुभवातीत सत्ता, नैतिकता और मूल्यों में विश्वास करने की अपनी असमर्थता के विनाशकारी परिणामों को जानता है लेकिन वह आडम्बर-पूर्ण अमूर्त दावों से उत्तरदायित्व की वास्तविक अनुभूति को झुठलाता है। या तो उत्तरदायित्व और अनुभवातीत सत्ता है, या कोई उत्तरदायित्व है ही नहीं।

सार्त्र दर्शन के स्रोत और इसकी असफलता उसके नाटक "द-फ्लाइज" में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। जहाँ तक क्लीट्मनेस्ट्रा द्वारा ऐग्मेम्नन की हत्या करने और अपने पिता की हत्या का बदला लेने के लिए ओरेस्टस द्वारा उसकी हत्या करने का सम्बन्ध है, यह यूनानी आख्यायिका पर आधारित है; इसके अतिरिक्त यह कथा पूर्णरूप से रूपान्तरित है। इस नाटक के आरम्भ में, चूँकि क्लीट्म-नेस्ट्रा अपने दोष का प्रायश्चित नहीं करती, शहर को इस रूप में सजा मिलती है कि वहाँ चारों ओर अनगिनत मक्खियाँ भर जाती हैं—घिनावनापन का समा-वेश इसलिए किया गया है कि दैवी कोप के सम्बन्ध में हमारा विचार बलवान हो। ओरेस्टस केवल अपने बारे में ही चिन्तित है; उसकी मुख्य समस्या है : "मैं कौन हूँ? शायद ही मेरा अस्तित्व है।" यह अधिकांश निरपेक्ष अस्तित्ववादियों की स्थिति व्यक्त करती है। वे अपने दैनिक जीवन के अस्तित्व को अर्थ देने में अस-मर्थ हैं। (जो शायद ही सम्भव है, अगर कोई निरपेक्षता चाहे और निरपेक्ष को अस्वीकार करे), उनका ख्याल है कि उनका जीवन निरर्थक और यथार्थ है, अतः वे कोई "महान्" कार्य करने का कठिन प्रयास करते हैं। ओरेस्टस को भी यथार्थ बनने के लिए कुछ करना होगा; अतः वह अपनी माँ की हत्या करता है, लेकिन न तो इस उद्देश्य से कि वह अपने पिता का बदला ले, न न्याय की पुनरस्थापना करने के उद्देश्य से, प्रत्युत केवल अपने जीवन को अर्थ प्रदान करने के उद्देश्य से। वह स्पष्ट रूप से कहता है : "कोई शुभ और अशुभ नहीं है मेरा कार्य शुभ था

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

क्योंकि मैंने इसे किया है...प्रत्येक मनुष्य को अपना मार्ग ढूँढ़ना चाहिये।" इस प्रकार शहर का दोष उसका दोष बना दिया जाता है; वह चुपके से वह दोष अपने ऊपर ले लेता है और गर्व से मक्खियों से घिरा हुआ प्रस्थान करता है, इस बात की पुष्टि करने के लिए कि सत्ता उसकी पूर्ण पकड़ में है, घिनावनापन की एक बार फिर आवश्यकता पड़ती है। वह उस ईश्वर से अब मुक्ति पा लेता है जिसने उसे अपनी माँ की हत्या करने का मार्ग बताया, क्योंकि उसने इस कार्य का अर्थ भिन्न रूप से लगाया है; वह अपनी स्वतन्त्रता पहचान लेता है। "मुझे अपनी स्वतन्त्रता मिल गयी है" यह नैतिकता से मुक्ति है; इसका उद्देश्य भग्नाशा है।

इस मुक्ति की अर्थहीनता, हत्या करना और जुगुप्सा के साथ आलिंगन करना—निश्चय ही स्पष्ट है। यह नाटक 'फ्रेन्च रेसाँ' को प्रोत्साहित करने के लिए लिखा गया था और इसे पेरिस में बड़े साहस के साथ दिखलाया गया जबकि फ्रांस पर नाजी आधिपत्य था। लेकिन चूँकि न तो शुभ का अस्तित्व है, न अशुभ का, अतः नाजियों द्वारा की गयी किसी भी हत्या का समर्थन करने के लिए इसका समान रूप से प्रयोग किया जा सकता है। अस्तित्व की "यथार्थता" विभिन्न कार्यों के मूल्यों के बीच सभी भेदों को नष्ट करके प्राप्त की जाती है।

हीडेगर भी, अस्तित्ववाद* की निरपेक्षता, तत्त्व और वस्तुनिष्ठता की वियुक्ति, और आत्मनिष्ठ विधि को सर्वग्राही बनाने के प्रयास को, न्यायोचित ठहराने का प्रयास करता है—लेकिन भिन्न रूप में; वह वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ के बीच के व्यवधानों को समाप्त कर देने का प्रयास करता है। स्पष्टतः अगर आत्मनिष्ठ विधि ही है जिसका प्रयोग किया जाना चाहिये तो इसके क्षेत्र के बाहर कोई चीज नहीं रहनी चाहिये। हीडेगर दो कार्यविधियों द्वारा बाहर और भीतर के सभी भेदों को समाप्त करता है : जबकि वह सत्ता पर विचार करता है और सामान्य रूप से अस्तित्व पर विचार करता है तो वह स्वयं सत्ता को सक्रिय मानता है और उसे एक ऐसी आत्मनिष्ठ अन्तरदृष्टि हमें प्रदान करने में समर्थ

---

* हीडेगर ने इस बात को मानने से इन्कार किया है कि वे अस्तित्ववादी हैं, क्योंकि उनका मुख्य रूप से सम्बन्ध, सत्ता के चरम स्वरूप से है, "मूलभूत सत्तामीमांसा" से है। फिर भी, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उसका मौलिक उपागम तत्त्वतः वही है जैसा समस्त अस्तित्ववाद का है; वास्तव में इस प्रकार के दर्शन से हाल के विकास पर उसका गहरा प्रभाव पडा है (या उसे उत्पन्न किया है।) इस बात पर आगे विचार-विमर्श करने के लिए एम० ग्रेनी० हीडेगर, लण्दन, १९५७ देखें। इस अध्याय में जिन कुछ अनुवादों का प्रयोग किया गया है, उनके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मानता है जो वैयक्तिक सहभागिता को पुनःस्थापित करती है। जब वह मनुष्य के अस्तित्व पर विचार करता है तो वह सम्पूर्णतः आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण से बाह्य-सत्ता को देखता है—उसका दृष्टिकोण सचमुच में इतना आत्मनिष्ठ होता है कि हम आत्मनिष्ठ विधि की अपेक्षा "आत्मनिष्ठ" शब्द के विकृत दैनिक अर्थ के बारे में विचार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।†

इन दो प्रक्रियाओं को पूरा करने के लिए, हीडेगर नये शब्दों की खोज में विशिष्टता दिखलाता है, जिसे वह स्वयं अपना मुख्य गुण मानता है। (चूँकि ये नये शब्द शायद ही अनुवाद्य हैं अतः मैं इसके लिए क्षमा चाहूँगा—अगर निम्न-लिखित में से कुछ का, जो उसे कहना है, केवल समीपवर्त्ती अनुवाद हुआ हो, और अगर एक अर्थ में अंग्रेजी भाषा के साथ अत्याचार भी हुआ हो।) उसके प्रयासों से एक ऐसी कठिनाई से मुक्ति मिलती है जो कीर्केगार्ड से आगे सभी अस्तित्व-वादियों के लिए सामान्य है। चूँकि वैयक्तिक सहभागिता की आवश्यकता पड़ती है, अतः वे दार्शनिक अनुभूतियों को ठीक-ठीक दोहराना चाहते हैं; फिर भी चूँकि उनका सम्बन्ध दर्शन से है, अतः ऐसी अनुभूतियों के सभी निजी तत्त्वों को निकाल देना होगा। अतः एक ओर तो वे अपनी दार्शनिक शैली को ठोस और विस्तृत वर्णनों से अतिभासित कर देते हैं, जिन्हें सामान्य रूप से उन सही कथनों के रूप में सम्प्रेषित करना कठिन हो जाता है, जिनकी इस शैली में अपेक्षा है; दूसरी ओर, जिन ठोस परिस्थितियों के अन्तर्गत वे घटित होते हैं उन्हें छोड़ करके वे इन विस्तृत वर्णनों को अस्पष्ट बनाते हैं। कीर्केगार्ड काफी हद तक सफल है; उसकी कुछ कृतियाँ पढ़ने में कठिन हैं, लेकिन चूँकि उसका अर्थ स्पष्ट है, अतः उन्हें पूर्णरूप से समझने के प्रयास हमेशा लाभदायक सिद्ध होते हैं। सार्त्र, जैब्रा-इल मार्शल और अन्य विचारक, उपन्यासों, नाटकों और डायरियों में अपने दर्शन को व्यक्त करके इस कठिनाई पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करते हैं....यह एक सन्देहास्पद तरीका है, क्योंकि जो कल्पना है या असंगत अनुभूति है, उससे उनका दार्शनिक विषय आसानी से अस्पष्ट हो जाता है। हीडेगर अक्सर इस समस्या का समाधान निकालने का प्रयास करता है और ऐसे कवियों या होल्डरलिन, रिल्के, नीट्त्शे जैसे अन्य विचारकों का अर्थ प्रतिपादन करके, इन बातों को आसान बनाने का प्रयास करता है; लेकिन यह भी एक सन्देहास्पद समाधान है क्योंकि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इन अन्य लेखकों का कहाँ तक

† पृष्ठ ६७-८ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थ प्रतिपादन हुआ है और हीडेगर के अपने दर्शन से हमारा कहाँ तक परिचय हो रहा है। वह भी नये शब्दों की खोज करना आवश्यक समझता है।

लेकिन हमें इस बात का पता लगाना चाहिये कि क्या यह नये शब्द, उसके विचार के बाहर किसी वस्तु की ओर संकेत किये बिना, उस विचार को प्रत्यक्ष रूप से यथार्थता प्रदान करते हैं, या क्या वे सत्ता के नये पक्षों को प्रकट करते हैं? हमारे सामने सत्ता को स्वयं उद्घटित होने के लिए, उन नयी क्रियाओं के साथ संज्ञाओं की व्यवस्था की जाती है जो उन्हें कर्तृवाचक होने में समर्थ बनाती है; अवस्तुता विनाशकारी होती है और यह अवस्तुता (das Nichts nichtet) की सृष्टि करती है; विश्व प्रत्येक वस्तु को अधिक ऐहिक बनाता है (die Welt weltet); अस्तित्व तात्विकता उत्पन्न करता है (das Dasein west)। "सत्ता" के कई पक्षों को हमें दिखलाने के लिए "सत्ता" को विभक्त कर दिया जाता है; प्रत्येक वस्तु के आधार के रूप में स्वयं सत्ता (Sein) को, वास्तविक अस्तित्व (Dasein) से, विशेष प्रकार से उसके अस्तित्व (Sosein) से, विशेष रूप (das Seiende) में या ऐहिक रूप में (In-der-welt sein) जिसका अस्तित्व है उससे और इसी प्रकार अन्य चीजों से भिन्न दिखलाया जाता है। संक्षेप में इसका परिणाम इस प्रकार निकलता है: स्वयं सत्ता उस चीज से प्रच्छन्न हो जाती है जिसका अस्तित्व है, और चूँकि हमारा सामना निरन्तर ऐसी वस्तुओं से होता रहता है, जिनका अस्तित्व है, अतः यह समस्या उत्पन्न होती है कि, "हम स्वयं सत्ता का प्रत्यक्षीकरण किस प्रकार कर सकते हैं, विशेष रूप से उस रूप में जिस रूप में विश्व निरन्तर प्रत्येक वस्तु को अधिक ऐहिक बनाता है।" आश्चर्य की बात तो यह है कि यहाँ अवस्तुता एक रचनात्मक कार्य करती है; उस वस्तु को नष्ट करके जिसका अस्तित्व है, और वास्तविक रूप से अस्तित्व में रहनेवाली वस्तुओं को नष्ट करके यह इन वस्तुओं के जंगल में एक "खुला-स्थान" बनाती है और इस खुले स्थान में अस्तित्व की तात्विकता प्रकट हो सकती है और स्वयं अस्तित्व प्रकट हो सकता है।* जैसाकि हमने कहा है: अस्तित्व हमें अवस्तुता की सहायता से चरम अन्तरदृष्टि प्रदान कर रहा है।

---

*जिन कुछ शब्दों से सत्ता का निरूपण किया गया है, उससे हेगेल के प्रभाव का पता चलता है। जब हेगेल ने अस्तित्ववाद की सृष्टि की तो कीर्केगार्ड को उसकी आलोचना करनी पड़ी थी; अब वह अस्तित्ववाद निरपेक्ष बन गया—हेगेल की निरपेक्षता बन गया है, वह भिन्न है, फिर भी अस्तित्ववाद फिर लौट आता है—हीडेगर और हेगेल दोनों एक अतिवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं, Les extreme se touchment. उदाहरण के लिए—'तात्विकता' शब्द का अर्थ अस्तित्व से एकदम भिन्न रखा गया है—उसका अर्थ है महत्त्व और उपरिष्ठता के विपरीत—फिर भी इसकी व्युत्पत्ति (जर्मनी में तथा अंग्रेजी में) तत्त्व शब्द से ही हुई है और अगर यह तत्त्व है तो इसे तात्विक होना होगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मुझे आशा है कि यह संक्षिप्त विवरण यह दिखलाने के लिए पर्याप्त है कि वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के बीच जो अवरोध है उसे समाप्त करने का प्रयास व्यर्थ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अस्तित्व एक है (अभी इस पर हम विचार करेंगे)। इस ऐक्य को हम कलाकृतियों में, कविताओं में, चित्रकारियों में, संगीत में, मूर्तरूप में सन्निवेश कर सकते हैं। इसकी अनुभूति हो सकती है और अन्य अनुभूतियों की अपेक्षा इसकी अनुभूति स्पष्ट रूप से रहस्यात्मक अनुभूति में की जा सकती है; लेकिन जब हम विचार की सहायता से एक बार सत्ता को समझ लेते हैं तो हमारा सामना अनिवार्य रूप से वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के बीच के भेद से होता है। उदाहरण के लिए—गार्डिनी, हालाँकि हीडेगर की प्रशंसा करता है, यह बात स्पष्ट करता है जब वह यह कहता है : "मैं यहाँ हूँ और प्रत्येक अन्य वस्तु वहाँ है—इस भेद से ऊपर उठने में हम कभी समर्थ नहीं हो सकते।" यदि कभी हम किसी वस्तु के बारे में जानने का प्रयास करते हैं तो ज्ञाता और ज्ञेय के बीच अवश्य ही भेद उत्पन्न हो जाता है; कोई भी विचार-पद्धति इसे समाप्त नहीं कर सकती। सामान्य रूप में निरपेक्ष अस्तित्ववादी और विशेष रूप में हीडेगर, दर्शन से वही काम लेने का प्रयास करता है जो केवल साहित्य कर सकता है। जब कोई कलाकृति या कविता की प्रबोधक भाषा हमारी भावनाओं को प्रभावित करती है तो अस्तित्व की एकता की अनुभूति की जा सकती है, लेकिन इसे दार्शनिक रूप में या मूर्त शब्दों से व्यक्त नहीं किया जा सकता।

जब अन्त में हीडेगर प्रत्यक्ष रूप से सत्ता की परिभाषा देने का प्रयास करता है तो वह असफल रह जाता है, क्योंकि वह इसकी "निरन्तर वर्त्तमानता के रूप में परिभाषा देता है और कई प्रकार से इस परिभाषा में परिवर्त्तन करता है।"[१] यह विशुद्ध रूप से औपचारिक परिभाषा है और यह नहीं बतलाती कि सत्ता यथार्थ में क्या है। अतः वह होल्डरलिन [Denn es hasset/Der sinnende Gott/Unzeitiges Wachstum (For God in his brooding hates untimely growth.)] की एक कविता से कुछ पंक्तियों को उद्धृत करके निष्कर्ष पर पहुंचता है जो अपने सौन्दर्य से तीव्र भावना जागृत करती है और इस प्रकार वास्तविक परिभाषा की रिक्तता पर और अस्तित्व हमें चरम-ज्ञान प्रदान करने में समर्थ हो सके, इसके लिए प्रयास करने की भ्रान्ति पर परदा डालती है। दर्शन में कविता पर आस्था या नाटकों और उपन्यासों पर आस्था—अस्पष्ट, अनुचित या अनिर्णायक दृढ़ कथनों को छिपाने का बड़ा ही आसान तरीका दे सकती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस बात को स्पष्ट करने के लिए यह उदाहरण पर्याप्त हो सकता है कि अस्तित्व की एकता प्रत्यक्ष रूप से समझी नहीं जा सकती, हालाँकि यह सन्देह से परे है। निरपेक्ष अस्तित्ववाद के प्रभाव में, कई लोगों ने शरीर और मन के बीच के पारम्परिक भेद की उपेक्षा करना आरम्भ कर दिया है, (जिसे पास्कल और कीर्केगार्ड दोनों ने स्वीकार किया था) और वे अपनी युक्ति का समर्थन जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान में हाल में हुए विकासों से करते हैं। अब निश्चय ही इस बात में कोई सन्देह नहीं कि शरीर और मन एक हैं, एकता के दो पक्ष हैं; उदाहरण के लिए, यह स्पष्ट है कि मस्तिष्क में किसी प्रकार की क्षति से बौद्धिक क्षमताओं पर प्रभाव पड़ता है। लेकिन एक साथ मानसिक और शारीरिक दोनों प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में यथोचित रूप से विचार-विमर्श करने में हम असमर्थ हैं, क्योंकि हम उन शब्दों में विचार नहीं कर सकते जो एक साथ दोनों के लिए उपयुक्त हों; हम या तो शरीर के सम्बन्ध में विचार करने के लिए विवश हो जाते हैं, या मन के सम्बन्ध में। अगर हम सही-सही यह जानते भी होते (जैसाकि वैज्ञानिकों की आशा है कि हम जानेंगे) कि प्रत्येक विचार से मस्तिष्क के कौन-से हिस्सों में क्रियाएँ, कूट सन्देशों के कौन-से विद्युत् आवेग और यान्त्रिक संचारण उत्पन्न होते हैं, फिर भी विचार के छोटे से अंश को हम नहीं समझ सकते। बाह्य गति (जिसे मापा जा सकता है और गणित्तीय सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है) और अन्तर्विषय, किसी विचार या वाक्य का अर्थ (जिसे केवल समझा जा सकता है और शब्दों की भाषा में व्यक्त किया जा सकता है), हालांकि एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं, परन्तु इतने भिन्न हैं कि एक ही प्रकार से उनके सम्बन्ध में विचार करना असम्भव है। हमें इन दो बातों में चयन करना है कि हम भौतिक प्रक्रियाओं पर एकाग्र करें, जिसमें हमारा मन एक उपकरण मात्र होता है जिस पर हम ध्यान नहीं देते, या अपने मन की अनुभूतियों पर एकाग्र करें, जिनमें भौतिक प्रक्रियाएँ होती तो रहती हैं लेकिन न तो उनका निरीक्षण किया जा सकता है न वर्णन ही किया जा सकता है। हमने पहले अध्याय में यह दिखला दिया है कि न तो जीवविज्ञान न मनोविज्ञान इस अवरोध को पार कर सकता है; यदि हम शरीर और मन दोनों को समझना चाहते हैं तो हम दो भिन्न विचार प्रणालियों की अनिवार्यता से बच नहीं सकते। कोई दूसरे प्रकार की विचार-पद्धति नहीं है जो एक ही साथ दोनों को समझ करके हमें उनकी एकता समझने दे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जब हीडेगर आत्मनिष्ठ पक्ष से सत्ता तक पहुँचना चाहता है तो अपने विपरीत अभिप्रायों के बावजूद, वह स्वयं इन निष्कर्षों की पुष्टि करता है। यहाँ सर्वग्राही एकता पूर्णरूप से लुप्त हो जाती है—जो उस समय स्थापित होती हुई प्रतीत हुई थी जब वस्तुनिष्ठ अस्तित्व ने हमें आत्मनिष्ठ अन्तरदृष्टि प्रदान की। हमारा सामना अस्तित्व के साथ उसी रूप में नहीं होता, वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ के ऐक्य के साथ नहीं होता, प्रत्युत बिल्कुल एक भिन्न विचार के साथ होता है, क्योंकि अब हीडेगर सत्ता के तीन अन्य पक्षों की स्थापना करता है—तथ्यात्मकता, अस्तित्ववादिता, अपवर्त्तन।

तथ्यात्मकता के सम्बन्ध में हमने आंशिक रूप से विचार-विमर्श किया है; इस शब्द से उसका अभिप्राय यह है कि हम अपने को एक ऐसी ऐतिहासिक स्थिति और एक ऐसे विश्व में "निक्षेपित" पाते हैं जिसका हम वरण नहीं कर सकते। लेकिन हीडेगर ने "इस विश्व में होना" को इस रूप में नहीं देखा जिससे हम इस विश्व को उसी रूप में समझने में समर्थ हो सकें; विश्व का अस्तित्व हमारे लिए मुख्य रूप से "पास होने" के लिए है, उसका "संचालन होने" के लिए है; यह हमारे प्रयोग के लिए "उपादान" है। तथ्यों का अर्थ लगाने की सम्भावना, जिस पर सार्त्र ने बल दिया, अब स्वयं अस्तित्व का भी निर्धारण करती है। दूसरे शब्दों में : यह पूर्णरूपेण एक वैयक्तिक तथ्यात्मकता है; व्यक्ति इस विश्व का सामना अपने रूप में और विविक्ति में करता है। इस विश्व को, जैसाकि वस्तुनिष्ठ रूप से इसे प्रस्तुत किया गया है, अब शामिल नहीं किया जाता है और न मानवीय सम्बन्धों को ही शामिल किया जाता है।

उसके विचार में, अस्तित्ववादिता हमारा कार्य बतलाती है। चूँकि यह विश्व "पास का उपादान" है, हम सम्पूर्ण रूप से अपनी स्थिति का निर्माण कर सकते हैं जिसमें हम अपने को पाते हैं; हम इसे अपनी "रचना" बना सकते हैं। हम सही रूप से इस विश्व का संचालन करके, अपने से और सभी प्रदत्त तथ्यों से परे जा सकते हैं और इस प्रकार हम चरम सत्ता और निरपेक्ष अस्तित्व तक पहुँचते हैं। यही हमें करना चाहिये; अस्तित्व अब हमारे लिए यह नहीं करता; हमें "तात्विकता" प्राप्त करनी चाहिये।

लेकिन अपवर्त्तन बड़ी बाधा है। हम जनसमूह के अंश हैं, और जैसाकि प्रत्येक व्यक्ति सामान्य रूप से जीवन व्यतीत करता है, उसी रूप में जीवन व्यतीत करके, निम्न स्तर पर तटस्थ जीवन व्यतीत करके, हम स्वयं के साथ विश्वासघात

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करने लगते हैं। हीडेगर के अनुसार, यहीं मानवीय सम्बन्ध आते हैं; वह उनके निषेधात्मक पक्ष पर ही ध्यान देता है।

इस प्रकार हमारे वैयक्तिक कार्य को और भी स्पष्ट किया जाता है; अपवर्त्तन के खतरे से बचने के लिए, जो एक मुख्य कार्य है, अपनी मूल प्रकृति के अनुसार हमें एक प्रामाणिक जीवन व्यतीत करना होता है। अस्तित्ववादिता के साथ तथ्यात्मकता का अधिक से अधिक सम्बन्ध जोड़कर यह कार्य करना है। इन दोनों के बीच सबसे सबल सम्पर्क, जैसाकि हीडेगर इसे देखता है, हमारे जीवन में समय का व्यतिक्रम है; चूँकि इसे न तो विपरीत दिशा में ले जाया जा सकता है, न खोया हुआ समय वापस लाया जा सकता है, अतः यह अपने जीवन का उचित रूप से प्रयोग करने के लिए हमें सबसे अधिक चुनौती देता है। अपने जीवन के अन्त में हम मृत्यु का सामना करते हैं; अतः हमें निरन्तर इससे अवगत रहना चाहिये। इसे भी प्रामाणिक बना करके, अर्थात् मृत्यु का आलिंगन करके इसके लिए तैयार हुए विना नहीं, या इससे तटस्थ हो करके भी नहीं, प्रत्युत अपने जीवन के अंश के रूप में इसकी पूर्ण अनुभूति करके, अपने रूप में इससे अभिज्ञ होकर हमारा अस्तित्व सम्पूर्ण रूप से "अनिवार्य" और सार्थक बना दिया जायगा। लेकिन इसका अर्थ यह होता है कि Angst या Sorge (चिन्ताग्रस्त चिन्ता) हमारे मन की आधारभूत अवस्थाएँ होनी चाहिये, हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि मूलरूप से जीना तभी सम्भव है जब हम अपने अस्तित्व की मौलिक अवस्था के रूप में विभीषिका की अवस्था को स्वीकार करें। आत्मनिष्ठता का स्थान सर्वोच्च हो गया है।

हीडेगर के दोनों प्रयत्नों में—अस्तित्व को सक्रिय बनाने के प्रयत्न में जिससे यह अपना अर्थ प्रकट कर सके, और अस्तित्व को हमारे द्वारा अर्थ प्रदान किये जाने के प्रयत्न में—अस्तित्ववादी उपागम का महत्त्व फिर देखा जा सकता है। एक ओर तो वह अस्तित्व के विभिन्न पक्षों में जो भेद दिखलाता है उससे वह अत्यधिक सामान्य शब्द को अधिक यथार्थ और गम्भीर बनाता ही है, दूसरी ओर, समय की चुनौती के साथ सम्बन्ध होने के नाते और मृत्यु का ध्यान रखने से, यह माँग और भी सशक्त हो जाती है कि हमें प्रामाणिक जीवन व्यतीत करना चाहिये। चूँकि समय एक बार जब निकल जाता है तो अन्ततः नष्ट ही हो जाता है और फिर उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतः समय का व्यतिक्रम सचमुच में यह माँग करता है कि हम इसके किसी भी अंश को महत्त्वपूर्ण समझें; और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

चूंकि मृत्यु की अनुभूति वास्तव में और सम्पूर्ण रूप से अपनी अनुभूति है, यह एक ऐसी अनुभूति है, जो बाँटी नहीं जा सकती, अतः हमें अपने ढंग से इसका सामना करना चाहिये। परितोष और पल्लवग्राहिता में निभृतस्थान छोड़ा नहीं जाता।

फिर भी हीडेगर के उपागम से भी उन आशंकाओं में वृद्धि होती है, जो उस समय उत्पन्न होती हैं जब अस्तित्ववाद को निरपेक्ष बनाया जाता है। अगर अवस्तुता एक रचनात्मक कार्य करती है तो हमें इसके विरुद्ध संघर्ष करने के लिए न तो अव बाह्य किया जाता है, न हम ऐसा करने के लिए हकदार ही हैं; हमें इसका अर्थ प्रकट करने के लिए केवल इसका चिन्तन करना होगा और इसके लिए प्रतीक्षा करनी होगी। इससे वह प्रामाणिक जीवन भी खतरे में पड़ जाता है जिसकी अन्य स्थान पर माँग की जाती है। अस्तित्व और अवस्तुता दोनों अपनी एक ऐसी क्रिया से सम्पन्न हैं जो उनका मानवीकरण करती हैं और वस्तुतः उन्हें देवतुल्य वना देती हैं—अर्थात् उनमें एक प्रकार का रहस्यात्मक गुण आ जाता है, जो यथार्थ नहीं हो सकता, जैसाकि हमने पहले इस बात का उल्लेख किया है, अगर एक बार अनुभवातीत सत्ता को अस्वीकार किया गया। वस्तुओं या सम्प्रत्ययों को रहस्यात्मक गुणों से सम्पन्न करने से अधिक खतरनाक बात शायद ही कोई और हो, क्योंकि इससे उन्हें अतिरंजित महत्त्व मिल जाता है जो समाप्त करने के लिए मनुष्यों के लिए ही उन्हें तत्पर करता है। जब नीट्शे अतिमानव की सृष्टि कर रहा था, तो इस अयथार्थ रहस्यात्मक स्तर पर "जाति" और "पृथ्वी" जैसे सम्प्रत्ययों का निर्माण किया गया; नाज़ियों ने "रक्त", "नार्डिक" और इस प्रकार के अन्य सम्प्रत्ययों में इसका विस्तार किया; चूंकि हीडेगर ऐसा करने के लिए उन्मुख था, अतः उसने नाज़ीवाद के सामने अपना सिर झुकाया। उसके अनुसार या जैसाकि सार्त्र के अनुसार : "कोई "नैतिकता प्रदत्त प्राग्नुभव" नहीं है, सच तो यह है कि कोई नैतिकता है ही नहीं; कोई नया ईश्वर निकट भविष्य में शायद उत्पन्न हो, लेकिन अभी तो है।" तो भी अस्तित्ववाद, आभ्यन्तर अनुभूति पर एकाग्र करके हमें अनुभवातीत सत्ता की ओर ले जाता है, जिसे अगर स्वीकार नहीं किया जाता तो उसके स्थान पर कुछ और लाना होगा। लेकिन चूंकि इन प्रतिस्थापनों से विनाशकारी अवस्तुता की शक्ति में वृद्धि होती है, अतः निरपेक्ष अस्तित्ववाद हमें यह स्वीकार कराने में सहायक होता है कि निरपेक्षता की खोज यथार्थतः उस क्षेत्र में की जानी चाहिये, जिसके अस्तित्व को सार्त्र और हीडेगर ने नहीं माना—अर्थात् अनुभवातीत क्षेत्र में की जानी चाहिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हीडेगर द्वारा व्यक्ति को अलग कर दिये जाने से प्रामाणिक जीवन को भी क्षति पहुँचती है। उसकी "तथ्यात्मकता", जैसाकि हमने कहा है, सम्पूर्ण रूप से आत्मनिष्ठ है, यह इतनी आत्मनिष्ठ है कि यह निजी सम्बन्धों को भी शामिल नहीं करती। ऐसा लगता है कि उसने ऐसे सम्बन्धों की कोई जानकारी कभी प्राप्त नहीं की, उसका उनके साथ केवल कोई सम्बन्ध नहीं है; उन पर तभी विचार किया जाता है, जब वह "अपवर्त्तन" के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करता है अर्थात् पूर्ण रूप से निषेधात्मक रूप से। लेकिन मनुष्य अलगाव में नहीं रहता, अतः हीडेगर द्वारा उसका चित्रण कृत्रिम और भ्रामक रहना चाहिये। जो वह छोड़ता है उसका और स्वयं में स्थानापन्न नहीं है; व्यक्ति के अलगाव से संयुक्त वे अन्य आधारभूत भावनाओं के मार्ग के रोड़े बनते हैं। उदाहरण के लिए, वे आधारभूत भावनाएँ हैं किसी पड़ोसी के प्रति प्रेम, साधुता से उत्पन्न आत्मतोष, आस्था की आभ्यन्तर निश्चितता, यह सब इस बात की अपेक्षा करते हैं कि भावात्मक मानवीय सम्बन्धों और अनुभवातीत सत्ता पर उचित महत्त्व दिया जाना चाहिये। और न इस प्रामाणिक मृत्यु पर बल देने से निरपेक्ष की समस्या का समाधान ही निकल सकता है, अगर यह मृत्यु अपने से परे की ओर संकेत न करे; इस प्रकार की मृत्यु हमें एक ऐसी अवस्तुता के साथ सामना कराती है जो निरर्थक विनाश के सिवा और कुछ नहीं हो सकती।

जेस्पर्श ने यह स्पष्ट रूप से दिखला दिया है कि समकालीन अस्तित्ववाद को निरपेक्ष होने की आवश्यकता नहीं; और इस प्रकार विनाशकारी होने की आवश्यकता नहीं। वह उस अनुभूति पर बल देता है जिसे वह "सीमा स्थितियाँ" कहता है। इसका अर्थ यह होता है कि वह भी मृत्यु और भग्नाशा पर बल देता है, लेकिन वह अन्य अनुभूतियों, जैसे बीमारी और विशेष रूप से, दोष का भी ध्यान रखता है। वह मनुष्य को अधिक वस्तुनिष्ठ रूप से देखता है और नैतिकता और मानवीय सम्बन्धों के साथ उसका सम्बन्ध है। वह ज्ञान की सीमाओं से अवगत है, अतः वह "सम्प्रेषण की समस्या" पर विचार करता है अर्थात् वह इस प्रश्न पर विचार करता है कि अनुभवातीत सत्ता का ज्ञान दूसरों तक पहुँचाया क्यों नहीं जा सकता, जबकि इसे न तो प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त किया जा सकता है, न विचार के चेतन प्रयास के परिणाम के रूप में दिखलाया जा सकता है। दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार का विस्तार लाकर के, वह अभावात्मक अनुभूतियों को (जिनका सामना वह सार्त्र और हीडेगर की तरह निःसंकोच करता है) भावात्मक महत्त्व प्रदान कर सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वह हमसे यह चाहता है कि हम अतिवादी सीमा स्थितियों की खोज करें, या कम से कम हम उन स्थितियों की अवहेलना न करें जो किसी भी तरह अपरिहार्य हैं। वह देखता है कि ऐसा करने में उनका सामना करने की अपनी असफलता से हम अवगत हो जायेंगे, और हो सकता है कि हम मात खा जायें। लेकिन इससे पूर्व कि हम उनकी अनुभूति प्राप्त करें, हमें इस बात की भी प्रत्याशा है कि निरर्थक अवस्तुतापूर्ण भग्नाशा के साथ हमारा सामना होगा। लेकिन वह दिखलाता है कि उन सीमा स्थितियों में असफलता का सामना करने के लिए, जो हमारी शक्ति के बाहर है, किसी भी सफलता से अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि जब इसकी अनुभूति प्राप्त की जाती है तो अवस्तुता किसी दूसरी चीज के लिए हट जाती है—हमारा सामना एक ऐसी सत्ता से होता है जो हमसे अधिक विशाल है और जो हमारे अस्तित्व के परे है और जो हमारे अस्तित्व को समाविष्ट करती है। लेकिन अगर हम सबसे अधिक दूरवर्त्ती सीमाओं तक पहुँचे भी, या हम अपने अनुभव के क्षेत्र का विस्तार चाहें कितनी दूरी तक करें, उसके परे भी हमेशा कुछ है, कोई ऐसा भाव है; जो उस समय हमारे बचाव के लिए आता है जब हम खोते प्रतीत होते हैं। जैस्पर्स और कीर्केगार्ड दोनों के अनुसार भग्नाशा भ्रामक आभायी निश्चितियों को हटाती है जिन पर विश्वास करने के हम आदी हैं और सबसे आधारभूत निश्चिति के साथ—एक ऐसी निरपेक्ष सत्ता के साथ जो धर्म की ओर संकेत करती है—हमारा सामना होता है। प्रतीयमानतः हम असफल रहते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि भग्नाशा और अवस्तुता को छोड़कर और कुछ नहीं रह जाता; लेकिन सच तो यह है कि हम अस्तित्व की पूर्णता की खोज कर लेते हैं।

लेकिन जैसाकि जैस्पर्स अभी भी निषेधात्मक सीमा स्थितियों पर अधिक बल देता है और समान वर्गवाली उन भावात्मक अनुभूतियों पर अपर्याप्त ध्यान देता है जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं—जैसे प्रेम या शुभत्व की तीव्र अनुभूतियाँ—मैं ब्यूवर पर आना चाहूँगा जिससे अस्तित्ववाद के और अधिक भावात्मक पक्षों को दिखलाने में मैं समर्थ हो सकूँ।

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आठ

व्यक्तिगत सम्बन्ध—मार्टिन ब्यूबर

एक प्रकार की निरपेक्षता की आकांक्षा—जैसाकि हम देख चुके हैं, भले ही उग्र अस्तित्ववादियों और तर्क-युग के दावों से चिपटे रहनेवालों, दोनों को ही पथभ्रष्ट करती है—मौलिक रूप से न्यायसंगत है, क्योंकि हम अपना अस्तित्व पूर्ण निश्चितता के साथ अनुभव करते हैं। सभी युगों में, दार्शनिकों ने इस तथ्य के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करने के प्रयत्न किये हैं, लेकिन वे निष्फल सिद्ध हुए हैं। हमें अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है।

यह निरपेक्ष ज्ञान एक चुनौती प्रस्तुत करता है। यह केवल एक अस्पष्ट तथ्य को ही अन्तःप्रज्ञात्मक रूप से सुलभ करता है, और हम स्वभावतः और अधिक जानना चाहते हैं; हम अपने अस्तित्व के अर्थ और मूल का ही पूर्ण ज्ञान चाहते हैं। किन्तु पूर्ण ज्ञान स्थापित करने के हमारे प्रयत्नों की निरन्तर असफलताओं से पता चलता है कि हमें सही दिशा में इसकी खोज करनी चाहिये।

हमें ऐसे किसी ज्ञान की सीमाओं की ओर पूरा ध्यान देना है जिसे हम सम्भवतः प्राप्त कर सकते हैं—अर्थात् इस तथ्य की ओर कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो पूर्ण और व्यापक हो। (जैसाकि पहले, इस सन्दर्भ में ज्ञान का मेरा अर्थ सचेत मनन प्रयत्न द्वारा प्राप्त ज्ञान से है।) वस्तुनिष्ठ पद्धति ऐसे ज्ञान की ओर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ले जा सकती है, जैसाकि प्राकृतिक विज्ञानों से पता चलता है, जिसमें समस्त बाह्य वास्तविकता और यहाँ तक कि मनुष्य भी शामिल है, जहाँ तक उसे बाहर से समझा जा सकता है; यह लगभग व्यापक हो सकती है। किन्तु वस्तुनिष्ठ होने के लिए, इस विधि में प्रेक्षक को अलग रखना होगा जहाँ तक मानवोचित ढंग से सम्भव है, और इस प्रकार कुछ निश्चित पूर्वकल्पित शर्त्तों को स्वीकार करना होगा; इसलिए जैसाकि हमने पहले अध्याय में देखा है, इस प्रकार प्राप्त ज्ञान सापेक्ष है, न कि निरपेक्ष। इस आधार पर, किसी भी मूलभूत अर्थ में "क्यों" प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता, और न मनुष्य के आन्तरिक अनुभवों को ही शामिल किया जा सकता है। दूसरी ओर आत्मनिष्ठ विधि एकाकी अनुभवों को निरपेक्ष ज्ञान की प्राप्ति में बदल सकती है, किन्तु चूंकि निरपेक्षता वास्तविक अनुभव का एक अभिन्न अंग है, अतः इस ज्ञान का प्रयोग सामान्यीकरणों के आधार के रूप में नहीं किया जा सकता, और यह व्यापक नहीं है। उदाहरणार्थ, यह ऐसे कथनों को कि "जगत् शुभ है" "न्यायसंगत नहीं ठहरा सकता, क्योंकि हम सम्पूर्ण जगत् का अनुभव करने में असमर्थ हैं। इसलिए निरपेक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें व्यापकता का परित्याग कर देना चाहिये और उन आन्तरिक अनुभवों को चुनना चाहिये जो आत्मनिष्ठ विधि की सहायता से संगत परिणाम प्राप्त करने का आश्वासन दें।

मार्टिन ब्यूबर वैयक्तिक सम्बन्धों को चुनता है और उसका चयन विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होता है। हमने बताया है कि वर्त्तमान दर्शन के सबसे अधिक आशाजनक चिह्नों में से एक चिह्न अस्तित्ववाद के उन रूपों में मिलता है जो जगत् को ध्यान में रखते हुए, अमूर्त्त मन को नहीं, बल्कि मनुष्यों के बीच मनुष्य को, इसके मध्य में रखते हैं।* अस्तित्ववाद की यह प्राकृतिक प्रवृत्ति होनी चाहिये, किन्तु कुछ अस्तित्ववादी जैसाकि हमने पिछले अध्याय में देखा है, मनुष्य को फिर विलग कर देते हैं; किन्तु जैस्पर्स जैसे अन्य लोग संचार की समस्या पर ध्यान देते हैं, लेकिन ब्यूबर की तुलना में अधिक सफलतापूर्वक नहीं।

इस समस्या के सम्बन्ध में उनकी प्रमुख कृति "आई एण्ड दाउ" है। इस पुस्तक से हमारी यह धारणा और भी पुष्ट हो जाती है कि मानवीय कार्यों में सरलता से कारण और कार्य के बीच सम्बन्ध का पता नहीं लगाया जा सकता और आगे चलकर पुस्तकें अपूर्व प्रभाव डाल सकती हैं।† "आई एण्ड दाउ", १९२२ में

* पृष्ठ ९७ देखिये। † पृष्ठ ९५-६ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लिखी एक छोटी-सी पुस्तक है, जो अभिव्यंजनावादी शैली में लिखी गयी थी, जो उस समय जर्मनी में प्रचलित थी, जिसका अर्थ है कि शैली अर्द्ध-रहस्यवादी और भाव-प्रवण है, जो तथ्यों को प्रकट करने के बजाय अक्सर उन्हें छिपाती है, जिसके न होने पर, जैसाकि निम्नलिखित उद्धरणों में देखा जायगा, अनुवाद में और भी स्पष्ट हो जाती है। फिर भी, इस पुस्तक का, विशेष रूप से इस देश में, दर्शन और धर्मशास्त्र पर, बहुत-सी विशाल और सुलिखित कृतियों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ा; "आई एण्ड दाउ" वाक्यांश को, मानव अनुभव के उन कारकों के नाम के रूप में स्वीकारा गया है जिनका ब्यूबर वर्णन करता है।

वह दो प्रकार के मूलभूत सम्बन्धों के बीच अन्तर स्पष्ट करता है, जिसे वह "आई–इट" और "आई-दाउ" की संज्ञा देता है। यह उसके इस दावे पर आधारित है कि जब कभी हम "मैं" (आई) शब्द का प्रयोग करते हैं, हम वास्तव में अपने आपको विलग नहीं रखते; हम या तो बाहर से देखे जानेवाले अन्य व्यक्तियों ("यह" (इट) के स्थान पर "वह" (ही या शी) का प्रयोग किया जा सकता है) अथवा वस्तुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं अथवा हम वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं जिसे "मैं-तू" द्वारा प्रकट किया जाता है। यह मोटे तौर पर हमारी वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ विधियों के बीच भेद के समान ही है, किन्तु इससे इस भेद को स्पष्ट करने और आत्मनिष्ठ विधि की ओर अधिक व्याख्या करने में काफी सहायता मिलती है।

"प्राथमिक शब्द मैं–यह"—ब्यूबर के शब्दों में, "मेरी समग्र सत्ता के साथ नहीं कहा जा सकता।" क्योंकि इस प्रकार प्राप्त ज्ञान प्रेक्षक से स्वतन्त्र होना चाहिये, "मैं" में से अपने आप का कुछ भाग निकालना होगा; केवल कुछ विशेष शक्तियाँ अपेक्षित हैं। दूसरी ओर, "प्राथमिक शब्द मैं-तू केवल समग्र सत्ता के लिए बोला जा सकता है।"[१] क्योंकि सम्बन्ध का प्रश्न केवल तभी उठता है जबकि बिना किसी सीमा के, "मैं का प्रयोग किया जाये, और उस पर अन्य व्यक्ति जो प्रभाव डालें उसका वह पूर्णतः प्रत्युत्तर दे।"

इस प्रत्युत्तर की प्रकृति इस प्रकार स्पष्ट हो जाती है जिसे ब्यूबर "एक वैयक्तिक मिलन" की संज्ञा देता है। इसका अनुभव करने के लिए हमें अन्य व्यक्ति से मिलना चाहिये, किसी पारम्परिक अथवा सरकारी तरीके से नहीं, बल्कि इस प्रकार कि हमारे दृष्टिकोण के प्रति उसकी प्रतिक्रिया ऐसी हो जिससे हमें अधिकाधिक सन्तोष मिले और इस प्रकार की प्रतिक्रिया न मिलने पर हमें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अत्यन्त दुःख हो। हम मिलन में इस प्रकार पूर्णतः घुलमिल जायें कि अन्य सब बातें लुप्त हो जायें। "जब 'तू' बोला जाय, वक्ता .....सम्बन्ध में अपना स्थान लेता है", अन्य के साथ निकटतम सम्बन्ध में, और अपने अनुभव से वह पुष्टि करने में समर्थ होता है: "समस्त सच्चा जीवन मिलन है" (पृष्ठ ५,१२-३),* उनसे शिक्षा ले सकते हैं, वे आन्तरिक अनुभवों को उत्पन्न कर सकते हैं। इस अवस्था का अनुभव किया जा सकता है, किन्तु पूर्णतः व्यक्त नहीं (सिवाय कला-कृतियों को छोड़कर, जिसकी हम बाद में चर्चा करेंगे) क्योंकि अनुक्रिया एकपक्षीय होती है। तीसरी अवस्था "आध्यात्मक के साथ जीवन" है, यहाँ हम सम्बन्ध का अनुभव कर सकते हैं, यह अन्तःप्रज्ञा और अन्तःप्रेरण की ओर ले जा सकता है, और यदि ऐसा हो तो हम शुभ क्षणों में इसे व्यक्त भी कर सकते हैं। यहाँ हम सम्बोधित किये जा रहे हैं किन्तु ऐसे भागीदार द्वारा जो इतना परे है कि कोई स्पष्ट प्रतिक्रिया केवल महान् आन्तरिक शक्ति के क्षणों में ही सम्भव हो सकती है। मध्य अवस्था "मनुष्यों के साथ जीवन" (पृष्ठ ६-७), इन दो अन्य अवस्थाओं के बीच सुस्थिर है और यही वह अवस्था है जिसे भाषा के जरिये व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि भाषा अन्य व्यक्ति पर दावा कर सकती है और पूर्ण अनुक्रिया प्राप्त हो सकती है। ब्यूबर प्रारम्भ में वैयक्तिक मिलन पर एकाग्र करता है, इसलिए; किन्तु यह अनुभवातीत सत्ता के लिए सार प्रदान कर सकता है, जो उग्र अस्तित्ववादियों के उपदेशों में नहीं हो सकता, और कीर्केगार्ड के दृष्टिकोण की अपेक्षा और अधिक प्रत्यक्ष रूप से कर सकता है।

वैयक्तिक मिलन "तू" के अनुभव पर आधारित है और ब्यूबर अपने अनुभव की व्याख्या के "गेस्टाल्ट" अथवा "संस्थान" मनोविज्ञान के मतों की सहायता से करते हैं। उदाहरण के तौर पर, इस विचारधारा का पालन करनेवाले दावा करते हैं कि हम आरम्भ में एक और फिर दो और फिर तीन पेड़ और तब इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते कि बन है, बल्कि हम सबसे पहले बन का अनुभव करते हैं और उसके बाद ही हम उसका विश्लेषण बहुत से पेड़ देखने में करते हैं। इसी प्रकार, संगीत सुनने पर हम एक और फिर दो स्वर ग्रहण करके लय का अनुभव नहीं करते, बल्कि लय पहले सुनी जाती है और एकाकी स्वरों की जानकारी के लिए अतिरिक्त प्रयत्न की आवश्यकता होती है। कोई भी अनुभवी पाठक इस बात की पुष्टि कर देगा कि वह एक के बाद दूसरा अक्षर नहीं पढ़ता

*इस पृष्ठ पर तथा अगले पृष्ठों पर, निक्षिप्त चिह्नों में पृष्ठ संख्या का उल्लेख "मैं और तू" किया गया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बल्कि शब्दों अथवा यहाँ तक कि शब्दों के क्रम को, अव्यवहित सम्पूर्णता के रूप में, संस्थान के रूप में, देखता है। इसी रूप में, किसी मिलन में, हम मिलने-वाले पूरे व्यक्ति का अन्त:प्रज्ञात्मक प्रभाव प्राप्त करते हैं। ब्यूबर के शब्दों में, "जिस प्रकार लय, न तो स्वरों, न शब्दों के श्लोकों और रेखाओं की आकृति को मिलाकर बनती है......यही मनुष्य की बात है, जिसे मैं "तू" कहता।" ब्यूबर के मस्तिष्क में जो था उसका स्पष्टीकरण सम्भवत:, कोई पुस्तक पढ़ने, व्याख्यान सुनने और बातचीत करने के बीच तुलना के जारी किया जा सकता है। जब हम किसी पुस्तक को पढ़ते हैं, उसके लेखक का हम पर प्रभाव पड़ता है; फिर भी हमारे विचार भ्रमित हो सकते हैं, हम उचाट हो सकते हैं, पठन में बाधा डाल सकते हैं और उसे दोबारा पढ़ सकते हैं, और हम पढ़ते-पढ़ते सो सकते हैं। इसलिए हम पूरी तरह से सम्मिलित नहीं हैं, ब्यूबर की दृष्टि से यह अभी मिलन नहीं है। जब हम कोई व्याख्यान सुनते हैं, तो व्याख्याता के साथ हमारे वैयक्तिक सम्बन्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है, किन्तु हमारे विचार अस्थिर हो सकते हैं और हम सो भी सकते हैं। किन्तु बातचीत के दौरान, यदि इसे वास्तव में बातचीत होनी हैं, तो हमें हर समय उपस्थित और सावधान रहना होगा। यदि हम सुनेंगे नहीं तो हम उत्तर नहीं दे सकेंगे, और न ही हम अपने साथी का ध्यान आकर्षित कर सकेंगे। हमें वास्तव में समझने का और अपनी बात दूसरों को समझाने का प्रयत्न करना चाहिये, दूसरों को तथा अपने आप को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये; यदि हम कोई प्रतिबन्ध न रखें तो बातचीत सर्वोत्तम होगी—यदि हम न तो अपनी सच्ची राय छिपायें और न अपने साथी का किसी हालत में विरोध करें, बल्कि ईमानदारी से और निष्पक्ष होकर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करें। अन्यथा हम अथवा हमारा भागीदार महारानी एलिजावेथ की स्थिति में हो जायेगा, जिन्हें ग्लेडस्टोन के प्रति अरुचि हो गयी थी क्योंकि उसने उन्हें एक सार्वजनिक सभा की तरह सम्बोधित किया था। किन्तु जब हम पूर्ण और स्पष्ट प्रतिक्रिया प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं, तो हम वैयक्तिक बैठक का अनुभव करते हैं जिसकी ब्यूबर माँग करता है। न तो हमें माँग करनी चाहिये और न हम बचने में समर्थ हो सकते हैं।

ऐसे मिलन पर जोर देना अस्तित्ववादी दर्शन के अनुरूप है, फिर भी, उग्र अस्तित्ववादियों और ब्यूबर के बीच अन्तर स्पष्ट है। उनके लिए, मनुष्य का अस्तित्व अवस्तुता के दो ध्रुवों के बीच निलम्बित रहता है—जन्म से पहले और मृत्यु के पश्चात्। ब्यूबर के लिए, वैयक्तिक मिलन, दो अन्य प्रकार के मिलनों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

के बीच मध्य अवस्था है, जो दोनों की वास्तविकता है । पहली अवस्था को वह "प्रकृति के साथ जीवन की" संज्ञा देता है, क्योंकि हम केवल वस्तुनिष्ठ में "तू" के तरीके से ही वस्तुओं को नहीं देखते, हम उनका अनुभव भी कर सकते हैं और करते हैं । "मैं" उसके बालों के रंग, अथवा उसके भाषण तथा उसकी अच्छाई को अलग कर सकता हूँ । मुझे ऐसा निरन्तर करना चाहिये । किन्तु हर वार जव भी मैं ऐसा करता हूँ, वह "तू" नहीं रहता" (पृष्ठ ६-१०) । "तू" का अनुभव करने का अर्थ होता है सम्पूर्ण व्यक्ति का तात्कालिक ज्ञान प्राप्त करना ।

मिलन अनुकम्पा से होता है । इसे बताने के लिए, ब्यूबर "अनुकम्पा" जैसे कठिन प्रत्यय को अधिक सरलतापूर्वक अभिगम्य बना देता है, जो मिलन के अनुभव को और स्पष्ट करती है । ब्यूबर, दिन-प्रतिदिन के जीवन में अनुकम्पा का मूल बताता है और यद्यपि इस प्रकार की अनुकम्पा का वह अर्थ न लगाया जाये जो ईसाई लोग लगाते हैं, इससे अनुकम्पा का ईसाई सम्प्रत्यय को बोध-गम्य बनाने में सहायता मिलती है । अनुकम्पा को हम कई भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में देख सकते हैं । हम अपने आप किसी कविता के सौन्दर्य की सराहना नहीं कर सकते, हमें उसकी सुन्दरता का "भान" या तो एक बार में हो सकता है अथवा कभी नहीं, अथवा हम बिना पूरी तरह से समझे कई बार पढ़ सकते हैं और फिर एकाएक उसे समझ जाते हैं । हम नैतिक-विधि के अनुसार कार्य करने का कठोर परिश्रम कर सकते हैं, जव तक कि अन्य व्यक्ति में शुभत्व के अनुभव द्वारा नैतिक विधि व्यवहार में नहीं आती और हम यह महसूस नहीं करते कि हमने पहले क्या खोया है ? हमारा कोई भी प्रयत्न किसी कविता का पूर्ण-बोध अथवा शुभत्व सीधे ही पैदा नहीं कर सकता; बोध एक "विशुद्ध अनुकम्पा" है । निश्चय ही हमें ऐसे अनुभव के प्रति झुकने, उसे स्वीकार करने और उस पर चलने की इच्छा पैदा करनी होगी; अन्यथा यह अनदेखा रह जायगा और उसके कोई परिणाम नहीं निकलेंगे । हमें वैयक्तिक सहभागिता की आवश्यकता है, जैसाकि हमने पहले कहा है । लेकिन, भाग लेने की केवल इच्छामात्र से भाग लेना सम्भव नहीं हो सकता । हमें प्रयत्न करना होता है, फिर भी, हमारे किसी भी प्रयत्न से यह गारण्टी नहीं मिलती कि जो हम चाहते हैं वह उपलब्ध हो जायगा; हमें दरवाजा खटखटाना होता है, किन्तु हमारे लिए दरवाजा खोलना होगा । वैयक्तिक मिलन में यह सब स्पष्टतः देखा जाता है : "तू" का मुझसे मिलन अनुकम्पा से होता है, यह चाहने से प्राप्त नहीं होता... ....."तू" का मिलन मुझसे होता है । किन्तु "मैं" उसके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता हूँ । इस प्रकार, सम्बन्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का अर्थ चुना जाना और चुनना है" (पृष्ठ ११-२) । हमें एक ही समय में सक्रिय तथा ग्रहणयोग्य होना है—हमारा प्रयत्न आवश्यक है, किन्तु इसका परिणाम केवल सफल मिलन ही नहीं है ।

यहाँ दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं । एक ओर "अनुकम्पा" शब्द का अर्थ केवल वैयक्तिक-क्षेत्र में अभिप्राय और परिणाम के बीच अन्तःसम्बन्ध की पर्याप्त व्याख्या प्रस्तुत करता है न कि कारण और कार्य के शब्दों की कोई व्याख्या । ऐसे मिलन के लिए तैयार होने के लिए हमें कारणता के बारे में भूलना है: जब तक "तू" का स्वर्ग मेरे ऊपर फैला है, कारणता की हवाएँ मेरी एड़ी की ओर झुकती हैं और भाग्य का जलावर्त्त अपने मार्ग पर रहता है (पृष्ठ १०), दूसरी ओर चूँकि हमें सक्रिय और संग्रहणशील दोनों ही बनना है, अतः मिलन "एक में दुःख और कृत्य" है, और यह किसी भी ऐसे कृत्य के सम्बन्ध में लागू होता है, जिससे हम पूरी तरह सम्बद्ध हैं । समग्र प्राणी का कोई भी कृत्य दुःख सदृश होगा ही जिसका अर्थ समस्त आंशिक कृत्यों को निलम्बित करना है और परिणामस्वरूप उन कृत्यों की सभी सम्वेदनाओं को निलम्बित करना है, जो उनकी विशेष सीमा में ही प्रतिष्ठापित हैं ।* (पृष्ठ १२) अनुकम्पा पर निर्भरता से निष्क्रियता, प्रतीक्षा अथवा एक प्रकार के आलस्य, एक भ्रम को प्रोत्साहन मिल सकता है, जिसके विरुद्ध सेण्ट पॉल और लूथर को संघर्ष करना पड़ा था, जबकि उन्होंने अनुकम्पा पर मनुष्य की पूर्ण निर्भरता स्थापित की थी । "मैं-तू" के सम्बन्ध से स्पष्ट है कि इस साम्राज्य में कार्यशीलता और निष्क्रियता के बीच कोई विशिष्ट अन्तर नहीं किया जा सकता; न ही दुःख से बचा जा सकता है । आखिर, इसके अन्तर्गत कीर्केगार्ड के "अज्ञात में छलाँग लगाने" जैसा है, जो निष्क्रिय स्वीकार्यता और एक कृत्य दोनों ही है और जो हमें दुख में शामिल करेगा ही ।

साथ ही साथ, हमें वर्त्तमान का अनुभव करने का सामर्थ्य प्रदान करता है। यह कठिन और अनिवार्य कार्य है । जब तक हम व्यावहारिक जीवन से घिरे हैं, तब तक हमारा निर्धारण उस अतीत से होता रहेगा, जिस पर हमें निर्माण करना चाहिये, और हम निरन्तर भविष्य के लिए योजना बना रहे हैं, वर्त्तमान केवल अवगम्य विभाजन रेखा है जहाँ कि भविष्य निरन्तर भूत की ओर खिसकता जाता है । फिर भी स्पष्टतः, यदि हमें पूरा अनुभव करना है, समय गुजरने

*जर्मन में "लैडन" शब्द का अर्थ निष्क्रिय होना और दुःख का अनुभव करना, दोनों ही हैं । इसलिए, ब्यूवर के लिए "दुःख" का अर्थ हमेशा दोनों से है ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पर ध्यान दिये बिना हमें वर्त्तमान में रहना चाहिये, इसे अन्तर्वस्तु और अवधि प्रदान करनी चाहिये। हमें उसी पर केन्द्रित करना चाहिये जो हम वास्तव में अनुभव करते हैं, उदाहरणार्थ, एक अच्छी बातचीत की, यही शर्त्त है और यह वैयक्तिक मिलन में प्राप्त होती है। वास्तविक, पूर्ण वर्त्तमान केवल तभी विद्यमान होता है जबकि वास्तविक उपस्थिति मिलन और सम्बन्ध विद्यमान हो। वर्त्तमान का प्रश्न केवल तभी उठता है जबकि "तू" उपस्थित हो.. यह तुम्हारी उपस्थिति है; जब ऐसा होता है तभी तुम्हारे लिए वर्तमान है (पृ० १३, ३२)। तभी हम वास्तव में पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

कोई कलाकृति वही कार्य पूरा कर सकती है। ब्यूबर का कहना है कि कलाकार, शब्द की व्यापकता को देखते हुए व्यक्ति के रूप में जिसे उसके प्रतिनिधि के रूप में "तू" कहा जाता है, और हम, कलाकृति का मूल्यांकन करते समय इस कृति को अपने लिए "तू" बनाना होगा ताकि इसके पूर्ण प्रभाव की अनुभूति प्राप्त की जा सके। यहाँ भी "मैं-तू" का सम्बन्ध काम करता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि वस्तुनिष्ठ विधि को अलग कर दिया जाय। हमें आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों ही विधियों की आवश्यकता है, क्योंकि जिसे ब्यूबर "हमारे भाग्य की उदात्त उदासीनता" कहता है,—अर्थात् न तो हम निरन्तर "मैं-तू" के सम्बन्ध में रह सकते हैं न वर्त्तमान में। हमारे संसार में प्रत्येक "तू" को "यह" होना पड़ता है। इसका कोई अर्थ नहीं कि सीधे सम्बन्ध में "तू" कितना एकान्तिक रूप से विद्यमान था। जैसे ही सम्बन्ध प्राप्त कर लिया जाता है अथवा किसी प्रकार व्याप्त हो जाता है, तो "तू" वस्तुओं में से एक वस्तु बन जाता है......सीधे सम्बन्ध में प्रेम अपने आप बना नहीं रहता। यह वास्तविक और सम्भाव्य प्राणी के अन्तर-परिवर्तन में बना रहता है (पृष्ठ १७-८) अथवा केवल वर्त्तमान में ही रहना सम्भव नहीं है। यदि वर्त्तमान को तेजी से और पूरी तरह से काबू में करने के लिए सावधानी न बरती गयी तो जीवन व्यर्थ हो जायगा।" इसलिए वस्तुनिष्ठ विधि आवश्यक है, परन्तु ब्यूबर इसकी सीमाओं को देखने और हमें अपरिहार्य आत्मनिष्ठ विधि से अवगत कराने पर बल देता है : केवल भूत में रहना सम्भव है, वास्तव में इसमें ही कोई जीवन सुव्यवस्थित हो सकता है। हमें प्रत्येक क्षण का उपयोग करना है, और तब यह नष्ट नहीं होता इसके बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। लेकिन जो केवल इसके साथ रहता है, वह मनुष्य नहीं है (पृ० ३४)।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कठिनाई यह है कि न तो "मैं–तू" के संसार का सामान्यीकरण किया जा सकता है और न किसी प्रकार की व्यवस्था से इसे अस्तित्व में रखा जा सकता है. "तू" क्षणिक है, क्योंकि यह बना नहीं रह सकता, इसे निरन्तर नये सिरे से अनुभव करना होता है। "तू" का अनुभव करने का अर्थ है किसी वस्तु को समझना, जिसकी पुनरुत्पत्ति अमूर्त प्रत्ययों द्वारा सम्भव न हो, प्रत्युत जो केवल अनुभव में अभिगम्य हो, जब हम उसे पकड़ना चाहते हैं तो वह निकल भागती है, जब हम उसका सर्वेक्षण करना चाहते हैं तो हम इसे खो बैठते हैं, क्योंकि वह "यह" हो जाती है। कोई भी तत्त्वमीमांसीय प्रणाली, कोई भी सामाजिक व्यवस्था इसे स्थायी नहीं बना सकती, क्योंकि जैसे ही एक सतत् रूपरेखा के अन्तर्गत इसका पता चलता है, ज्ञान के एक स्थायी लक्ष्य के रूप में, इसकी भिन्न प्रकृति समाप्त हो जाती है। विचार अनुभव का पुनर्निर्माण कर सकते हैं, किन्तु वे कोई स्थापना नहीं हैं, क्योंकि वे भी "यह" की दुनिया से सम्बन्ध रखते हैं।

फिर भी, "तू" का अनुभव प्राप्त करना आवश्यक है। व्यवस्था और संगठन का विवेचन करते समय व्यूबर का कहना है : "व्यवस्थित विश्व, विश्व-व्यवस्था नहीं है" (पृ० ३०)। आधुनिक एकदलीय शासन-पद्धति का स्वरूप समझने के पहले ही यह कहा गया था (जो रूस में इसकी स्थापना से पहले नहीं था, वल्कि फासिज्म और नाजिज्म की शुरूआत के पश्चात् था)। एक तानाशाह अफसरशाही इस प्रकार सन्तोषजनक प्रभाव डाल सकती है कि आख़िरकार व्यवस्था तो स्थापित हो गयी है, फिर भी यह अव्यवस्था का परिणाम हो सकती है। "तू" का अनुभव, सामाजिक संगठन के एक भाग के रूप में न समझे जाने पर भी, हमें उन शर्त्तों से अवगत कराता है जिन्हें किसी मानव समाज को पूरी करनी चाहिये।

वास्तव में, एक ऐसा ज्ञान विद्यमान है जो "मैं–तू" के सम्बन्ध की जानकारी तथा इसके सतत् नवीकृत अनुभव—इसकी "क्षमता और वास्तविकता" पर आधारित है। इसे क्रमबद्ध नहीं किया जा सकता, किन्तु धीरे-धीरे यह संचित हो सकता है। अभी तक की हमारी विवेचना से पता चला है कि हम सम्बन्ध की स्थितियों का पता और अधिक स्पष्ट रूप से लगा सकते हैं, जिससे हमें इनका नवीकरण करने में इसका और अधिक अनुभव करने तथा समझने में सहायता मिलेगी और इसके उपयोगी परिणाम निकल सकते हैं क्योंकि एक ऐसा केन्द्र भी है जहाँ विकास के एक केन्द्र के रूप में, हमारे अपने व्यक्तित्व के ज्ञान के रूप में संचयन हो सकता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

वैयक्तिक मिलन का प्रमुख प्रभाव यह है कि हम अपने आप को खुले में पाते हैं, किसी अन्य अवसर की अपेक्षा और अन्य व्यक्ति के बारे में जानने की अपेक्षा हम अपने आप के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करते हैं। हमने बताया है कि हम इस अन्य व्यक्ति के बारे में, उसकी विशिष्ट विशेषताओं की नहीं (जो उसे "यह" बनायेगी) बल्कि उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के बारे में अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह बात हमारे अपने ज्ञान के साथ होती है; हम व्यक्ति की विशेषतामात्र, जो हम संयोगवश होते हैं; और हमारी मानव-प्रकृति—जो हमारे अन्दर विद्यमान है और सभी व्यक्तियों में समान है—के बीच भेद करना सीखते हैं। ब्यूबर का कहना है : "यदि हम अपने रास्ते पर चले जा रहे हैं और ऐसे व्यक्ति से मिलते हैं जो हमारी ओर चला आ रहा था और अपने रास्ते पर भी चल रहा था, हम केवल अपने रास्ते के भाग को ही जानते हैं उसके रास्ते के भाग को नहीं—उसके "हम" का अनुभव हम केवल मिलन में करते हैं। पूर्ण सम्बन्धात्मक स्थिति की हम जानकारी प्राप्त करते हैं—बीते हुए जीवन के ज्ञान के आधार पर, हमारे सम्बन्ध तक जाने, रास्ते के हमारे भाग के आधार पर दूसरा भाग हमारे पास केवल आता है, हम उसे जानते नहीं हैं, यह मिलन में आता है—तू मेरे सामने आता है। मैं, इसके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करता हूँ" (पृ० ७४-५)।

इस सन्दर्भ में, ब्यूबर एक अन्य महत्त्वपूर्ण भेद "व्यष्टित्व" और "व्यक्ति" के बीच—प्रस्तुत करता है। हममें व्यष्टित्व वह है जो हमें अन्य से अलग करता है, किन्तु एक समान आधार भी है जिस पर "मैं–तू" का मिलन होता है। "अन्य व्यष्टित्वों से भिन्न होने पर ही व्यष्टित्व की उत्पत्ति होती है। अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करके ही मनुष्य अपना आभास कराता है। एक प्राकृतिक अनाशक्ति का आध्यात्मिक रूप है, दूसरा सम्बन्ध की प्राकृतिक सुदृढ़ता का आध्यात्मिक रूप (पृ० ५९)। व्यष्टित्व में चरित्र, जाति, गतिविधि, व्यवसाय, समान प्रतिभा सम्मिलित हैं। ब्यूबर के शब्दों में, व्यक्ति में 'आत्मत्त्व' की झलक मिलती है और यह "मैं हूँ" के वक्तव्य द्वारा व्यक्त होता है, न कि "मैं इस प्रकार हूँ" द्वारा। "मैं–तू" का सम्बन्ध व्यक्ति से है, किन्तु इसे समझने के लिए हमें व्यष्टित्व और अपने व्यक्तित्व दोनों को ही जानना होगा, और वैयक्तिक मिलन से यह जानकारी प्राप्त करने में मदद मिलती है।

---

* यहाँ ब्यूबर की स्थिति वही है जो कोर्केगार्ड की है। देखिये पृष्ठ ६६-७।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस भेद से एक कठिनाई दूर होती है जिसने बहुत से दार्शनिकों को दुविधा में डाल रखा है। यह अक्सर इस प्रश्न में व्यक्त होता है : "मैं किस प्रकार जानता हूँ कि अन्य मन विद्यमान है ? यदि इस प्रश्न का उत्तर उन व्यक्तियों द्वारा दिया जाये जो वस्तुनिष्ठ विधि में विश्वास करते हैं, उत्तर यह होगा कि हम अन्य व्यक्तियों को काम करते, प्रतिक्रिया व्यक्त करते और हमारे समान वर्ताव करते, ऐसी भाषा बोलते देखते हैं जिसे हम समझ सकते हैं, और यह ऐसी अकेली उक्तियों की गणना ही है जो हमें अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि अन्य व्यक्तियों में भी सम्भवतः वह वस्तु विद्यमान है जिसे हम अपने अन्दर "मन" कहते हैं। हमें केवल इतना याद रखना है कि हमने 'गेस्टाल्ट' के बारे में क्या कहा है*—समझने का मनोविज्ञान कि हमारे मन इस प्रकार काम नहीं करते हैं। उग्र अस्तित्ववादियों का दावा है कि हमें केवल अपने अस्तित्व का ज्ञान है, वे इस प्रकार अन्य के ज्ञान से अपने आपको विमुख करते हैं, और फिर निराशोन्मत्त होकर मानव सम्बन्धों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं और उन्हें स्थापित करने का प्रयत्न करते उनका प्रयत्न व्यर्थ जाता है। व्यूबर का मत है कि मैं और तू साथ-साथ बढ़ते हैं "तू" के जरिए मनुष्य "मैं" हो जाता है (पृ० २७-८) अन्य मनों के मिलन से ही हमारे मन का विकास होता है, यदि हमारा विकास पूर्णरूप से एकान्त में हो तो हम मानव-मन का बिल्कुल भी विकास नहीं कर सकते, इस तथ्य की पुष्टि, जंगली पशुओं के बीच पलनेवाले बच्चों से सम्बन्धित रिपोर्टों द्वारा हो चुकी है। इसलिए हम वास्तव में यह पहले ही जानते हैं कि अन्य मनों का अस्तित्व है और केवल अपने ऊपर उनके प्रभाव से हमें अपने मन के बारे में जानकारी होती है। व्यक्ति का एक अलग अस्तित्व नहीं है।

व्यूबर, "प्रेम" के सम्प्रत्यय को स्पष्ट करके, मनुष्यों के बीच सामान्य बन्धन की प्रकृति को बतलाने का प्रयास करता है, अर्थात् उस प्रेम की प्रकृति बतलाने का प्रयास करता है जिसकी परिभाषा वह "तू" के लिए "मैं" के उत्तरदायित्व के रूप में करता है (पृ० १६) जो किसी के पड़ोसी के प्रेम के समकक्ष है। वह इस बात पर बल देता है कि यह प्रेम उन दो व्यक्तियों में विद्यमान रहता है जो मिलते हैं, न केवल प्रत्येक के अन्दर, अर्थात् वास्तव में उनके बीच कोई न कोई वस्तु विद्यमान रहती है। प्रारम्भ में यह आश्चर्यजनक लग सकता है, क्योंकि व्यूबर ऐसी भावना के लिए जो स्थानिक प्रकृति की नहीं हो सकती स्थानिक

* देखिये पृष्ठ १४०-१४१

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

शब्द "बीच" का प्रयोग करता है, किन्तु वह एक बार फिर इस बात पर बल देना चाहता है कि इस सम्वन्ध में जाना, आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य को भावना के अलग-अलग पात्र के रूप में देखना पर्याप्त नहीं है। मैं और भावना, चाहे भावना कितनी ही लुभावनी और सुहावनी क्यों न हो, उसके शब्दों में व्यक्ति का निर्माण नहीं करती, न ही अपने मूलरूप में व्यष्टिगत भावना सच्चे प्रेम को दर्शाती है। वास्तव में, यह बल, भावुकता और कमजोर दया के विरुद्ध भावनाओं में सन्तोषजनक ढंग से भाग लेने के विरुद्ध अच्छी प्रतिक्रिया है; यह पर्याप्त नहीं है कि मैं अनुभव करता हूँ—मेरा प्रेम अन्य व्यक्ति तक पहुँचना चाहिये ताकि यदि यह एकपक्षीय भी रहे तो यह "एक में ही क्रिया तथा दुःख हो" किन्तु यह पूरी तरह से वास्तविक हो जाता है जब दो व्यक्ति समान, आधार पर इस प्रकार मिलते हैं।

समान आधार पर इस मिलन के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक और धार्मिक फलितार्थ हैं।

यदि "मैं" भावना का अलग पात्र रहता तो सामाजिक आकांक्षाओं से किसी समुदाय का निर्माण नहीं होता जो आखिरकार हमारा लक्ष्य होना चाहिये, यहाँ तक कि समाजवाद, कुछ निजी भावना इसमें शामिल किये जाने पर भी, अपर्याप्त रहता है। समाज के लिए भी "मैं–तू" के सम्बन्ध की आवश्यकता को दिखाने के लिए, ब्यूवर एक अन्य पुस्तक में "हम" सम्प्रत्यय प्रस्तुत करते हैं। उनका दावा है कि चूंकि हमें "हम" की जानकारी नहीं है, हमारा समाज दो गलत अतियों के बीच आधुनिक व्यष्टिवाद और आधुनिक समष्टिवाद के बीच फँस जाता है। दोनों विचार चाहे अन्य से, उनके कारणों और अभिव्यक्ति से भिन्न हों, इसी स्थिति का ही परिणाम है, केवल विकास के विभिन्न स्तरों पर। यह स्थिति विश्व-सम्बन्धी तथा सामाजिक गृहहीनता विश्व तथा जीवन के भय के कारण है, जिसे ऐसा अकेलापन कहा गया है जो सम्भवतः पहले कभी नहीं अनुभव किया गया। प्रत्येक मानव अपने आप को मनुष्य के रूप में प्रकृति से अलग और एक व्यक्ति के रूप में, भीड़-भाड़ वाले जनसमूह में एकांकी महसूस करता है। इस नयी और विलक्षण स्थिति की मान्यता के प्रति उसकी पहली प्रतिक्रिया आधुनिक व्यष्टिवाद हैं, दूसरी आधुनिक समष्टिवाद है .... किन्तु, यदि व्यष्टिवाद मनुष्य के कुछ भाग को समझता है, समष्टिवाद मनुष्य को केवल एक भाग के रूप में देखता है, तो दोनों ही पूरे मनुष्य को, मनुष्य को उसके पूर्णरूप में नहीं समझते हैं। व्यष्टिवाद मनुष्य को केवल उसके अपने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

साथ सम्बन्ध में ही देखता है, समष्टिवाद मनुष्य को बिल्कुल नहीं देखता, बल्कि केवल समाज को देखता है। पहला मनुष्य की आकृति को बिगाड़ता है, दूसरा उसे छिपाता है। उत्तर है "हम" कुछ निश्चित संख्या में स्वतन्त्र व्यक्तियों का एक समाज, जिन्हें अपनेपन तथा उत्तरदायित्व की जानकारी है, जो "मैं–तू" के सम्बन्ध में रह रहे हों अथवा इसका समय-समय पर अनुभव कर रहे हों। "तू" कहने के लिए मनुष्य की शक्ति के आधार पर एक सच्चे समाज का निर्माण करना चाहिये।

यह अव्यावहारिक अथवा कीर्केगार्ड की राजनीतिक माँगों जैसा लग सकता है, फिर भी एक बार फिर यह हमारे वास्तविक अनुभव के अनुरूप है। क्या ऐसा कोई प्रारम्भिक बिन्दु है जो आशा प्रदान करता है। जब तक कि हम अपने आप मानना, अनुभव करना, समाज के सन्दर्भ के अन्तर्गत हम का लक्ष्य पाना आरम्भ न कर दें ? यदि समाज को व्यक्तियों का विश्व बनाना है तो जन-समूह के अन्तर्गत वास्तविक समुदायों को पुनरुज्जीवित करना स्पष्टतः अनिवार्य है। साथ ही, प्रेम मनुष्यों के बीच सामान्य आधार बताते समय, एक उच्च, एक आध्यात्मिक वास्तविकता प्रकट करता है। कीर्केगार्ड के विचारों का विवेचन करने में हमने पहले ही कहा है कि प्रेम हमारे उस अस्तित्व का द्वार खोलता है जो अनुभवातीत है।* ब्यूबर जिन परिणामों पर पहुँचता है वे कीर्केगार्ड के समान हैं उसी प्रकार जैसे कि ईसाई मत कि ईश्वर का पितृत्व मनुष्यों की मातृत्व की शर्त्त है। किन्तु ब्यूबर ईसाई नहीं है, वह इन परिणामों पर भिन्न प्रकार से पहुँचता है जो अन्य की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष होने का कारण, प्रेम के ईसाई सिद्धान्त की भी व्याख्या करता है।

यह तथ्य कि व्यक्तिगत मिलन में, दूसरा मुझे सम्बोधित करता है और मुझे सम्बोधित किया जा सकता है, मैं उसमें भी वही व्यक्ति देखता हूँ जो मैं हूँ, बताता है जैसा कि हमने अभी कहा है, कि हम सामान्य आधार पर मिलते हैं। यह सामान्य आधार केवल हमारी मानव-प्रकृति नहीं हो सकता, क्योंकि इसका अनुभव एक "अनिवार्य दावा" के रूप में किया गया है।† अर्थात् इससे किसी निरपेक्ष का पता चलता है जो प्रत्येक व्यक्ति को सम्बोधित करता है। ब्यूबर के अनुसार हम, उसके शब्दों में "अन्तिम तू" द्वारा सम्बोधित होते हैं—

* पृष्ठ ६६-६७ देखिये।

† पृष्ठ ६१ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"तू" जो "यह" नहीं बन सकता, क्योंकि यह हमारे समस्त ज्ञान के परे है; हमें इसका ज्ञान केवल सम्बोधित होने पर ही होता है। यह अन्तिम "तू" प्रत्येक मानव "तू" का आधार है; यह हमें व्यक्तिगत मिलन के अनुभव का आभास कराता है, क्योंकि सम्बोधित होने पर हम स्वयं निरन्तर (चाहे अक्सर केवल सम्भाव्यता के रूप में) "तू" की स्थिति में रहते हैं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर, हमें सम्बोधित करके हमें मनुष्यों के साथ में "तू" का अनुभव करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देता है, वैयक्तिक मिलन ईश्वर को इसके सामान्य आधार के रूप में प्रकट करता है, और इस प्रकार, "मैं–तू" सम्बन्ध के अनुभव में ईश्वर का वास्तविक अनुभव हो जाता है। एक सम्बन्ध जिसे हम वास्तव में अनुभव करते हैं सम्भव हो जाता है, क्योंकि कोई ईश्वर है।

फिर भी, यह तथ्य, ईश्वर के विचार के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि ईश्वर को "उपयुक्त रूप से केवल सम्बोधित किया जा सकता है, व्यक्त नहीं" (पृ० ७९) न तो किसी को ईश्वर के बारे में बात करनी चाहिये, न उसकी परिभाषा करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके बदले, ईश्वर के किसी सम्प्रत्यय में "तू" भी सम्मिलित होना चाहिये, ताकि हम उसे सम्बोधित कर सकें और अपने आपको सम्बोधित होते हुए सुन सकें। इस उपागम से हमें धर्म की प्रकृति की अधिक जानकारी प्राप्त होती है, उदाहरणार्थ, यह हमारे लिए पुरातन धर्मों का तिरस्कार करना असम्भव बना देता है; क्योंकि वे देवत्त्व को "तू" बनाकर विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं जो हमारे लिए सन्तोषजनक तो नहीं है, फिर भी सही दिशा में एक कदम है। किन्तु ब्यूबर बौद्धधर्म के सम्बन्ध में अपवाद रखता है, जिससे इस बात पर बल दिया जा सके कि किसी को भी नहीं, यहाँ तक कि उच्चतम बौद्धिक अथवा नैतिक स्तरों को भी नहीं, "तू" को दवाने की अनुमति दी जाये। बौद्धधर्म का मूलरूप नास्तिक था जिससे कोई "तू" नहीं था, जिसकी ओर देखा जा सके, और चूँकि धर्म के सच्चे कार्य से इसका मेल नहीं हो सका, बौद्धधर्म को हानि पहुँची; इसके बहुत से सम्प्रदायों ने, उनकी अपनी आकांक्षाओं के विपरीत, बुद्ध को ईश्वर में परिणत कर दिया ताकि "तू" का प्रस्तुतीकरण हो सके, जिसे सम्बोधित किया जा सके। कोई भी धर्म निर्दोष नहीं रह सकता है यदि वह अवैयक्तिक हो जाय।

इसके अतिरिक्त, ब्यूबर के ईश्वर-सम्प्रत्यय से दर्शन और धर्म के बीच सीमाओं की व्याख्या हो सकती है। "ईश्वर को अन्य के बीच एक प्रकरण के रूप में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् सभी प्रकरणों में सर्वोत्तम प्रकरण के रूप में शामिल करने के बजाय दर्शन-शास्त्र पूर्णतः और अंशतः ईश्वर पर वास्तव में विचार किये बिना उसकी ओर संकेत करने के लिए बाध्य होगा। इसका अर्थ हुआ कि दार्शनिक इस तथ्य को स्वीकार करने और मानने के लिए बाध्य होगा कि निरपेक्ष का उसका विचार ऐसे बिन्दु पर समाप्त हो रहा था जहाँ कि निरपेक्ष है, कि यह ऐसे बिन्दु पर समाप्त हो रहा था जहाँ निरपेक्ष से प्रेम किया जाता है, क्योंकि इस बिन्दु पर "निरपेक्ष" नहीं रहता, जिसके बारे में, ईश्वर को छोड़कर कोई दार्शनिक रूप से विचार करे।[1]

"निरपेक्ष" शब्द से हमें उस बात को समझने में मदद मिल सकती है, जो ब्यूबर कहना चाहता है। जो दार्शनिक ईमानदारीपूर्वक अनुभव करता है इस विशेषण का उपयोग करने के लिए बाध्य होगा, जैसाकि हमने किया है। किन्तु वास्तव में, यह बताता है—केवल कुछ, जिसे चरम और अव्युत्पन्न मानना पड़ेगा, और जिसे हमें उसी रूप में स्वीकार करना होगा, इसकी व्याख्या करने में समर्थ हुए बिना। किन्तु हम "निरपेक्ष" शब्द का प्रयोग किये बिना इसका उपयोग नहीं कर सकते, और संज्ञा एक कदम और आगे चली जाती है, लेकिन इसका अर्थ, इस वक्तव्य तक सीमित है कि ऐसे सभी अनुभवों में जैसाकि निरपेक्ष सिद्धान्त, कुछ और अधिक व्यापक महसूस होता है जिसमें निरपेक्षता निहित है, किन्तु जिसकी न तो परिभाषा की जा सकती है और न जिसे अधिक सीधी तरह से समझा जा सकता है, न ही और अधिक निश्चित सम्प्रत्ययों के जरिये जिसे व्यक्त किया जा सकता है। इस बिन्दु पर हम ज्ञान और दर्शन की सीमाओं तक पहुँचते है, जो ज्ञान के लिए प्रयास करता है। यह शब्द यह भी अच्छी तरह बताता है कि, क्योंकि हम निरपेक्ष को जानने में असमर्थ हैं, इसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती, और यह शून्य रह जाता है, जबकि ज्ञेय के परे किसी अन्य वस्तु की खोज करते हैं, जैसे "सीमाओं" शब्द का अर्थ है कि आगे ऐसा ही साम्राज्य है जहाँ हम नहीं पहुँच सकते। किन्तु धर्म के साथ यह प्रारम्भिक विन्दु है, क्योंकि विश्वास करनेवाले के लिए "निरपेक्ष" शून्य नहीं है, प्रत्युत ईश्वर है (अथवा किसी प्रकार की आध्यात्मिक वास्तविकता) और इस प्रकार वास्तविक है और पूर्ण और असीम अर्थ रखता है। अतः इस तथ्य के बावजूद कि निरपेक्ष दर्शन के परे है, दार्शनिक का काम निरपेक्ष को दिखलाना है जब कभी भी इसे ज्ञान में समाविष्ट किया जाये; यह दिखलाना है कि ज्ञान अनुभवातीत सत्ता की ओर कर कहाँ संकेत करता है, चाहे इस पर यह विचार न भी करे। किन्तु दर्शन में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ईश्वर को शामिल नहीं किया जाना चाहिये, जो, जैसाकि व्यूबर का कहना है, व्यक्त नहीं किया जा सकता। दार्शनिक, दर्शन के अन्तर्गत न्यायसंगत रूप से यह माँग नहीं कर सकता कि ईश्वर है (यद्यपि बहुत लोगों ने ऐसा किया है), किन्तु वह उन बिन्दुओं को बता सकता है जहाँ विश्वास करनेवाले के लिए, प्रदर्शन का स्थान विश्वास को लेना होगा। अगर दार्शनिक इन सीमाओं का सम्मान करता है तो वह उस खतरे का सामना किये बिना, जिससे पास्कल को डर था—कि ईश्वर, दार्शनिकों का ईश्वर हो जायेगा, तात्विक समस्याओं पर केन्द्रित कर सकता है।

व्यूबर द्वारा रहस्यवाद के अस्वीकार किये जाने से इसके शुद्ध रूप में भी, धर्म की प्रकृति और स्पष्ट हो जाती है। शुद्ध रहस्यवाद का उद्देश्य सभी को मिलाकर एकात्मकता है; रहस्यवादी हर्षातिरेक के क्षणों में, पूर्ण मेल का अनुभव करता है जिसमें ईश्वर और मनुष्य मिल जाते हैं व्यूबर, इस बात पर बल देता है कि धार्मिक अनुभव के क्षेत्र में भी मैं और तू के बीच विरोध अनिवार्य है; जैसाकि ईश्वर मुझे सम्बोधित करता है, मेरा व्यक्तिगत अनिवार्य रहता है—मैं बच जाता हूँ, मैं मुक्त किया जाता हूँ, मैं महत्त्व रखता हूँ। सभी रहस्यवादी सिद्धान्तों में यह पूर्वानुमान है कि ईश्वर मेरे अन्दर है, किन्तु हालाँकि यह सच है कि ईश्वर हमारे चारों ओर है और हमारे अन्दर रहता है, फिर भी, उसे हम अपने अन्दर कभी नहीं पाते। (पृ० १०२) सभी रहस्यवादी बाह्य वास्तविकता को भ्रममात्र मानते हैं, किन्तु यह वास्तविकता, "मैं-तू" सम्बन्ध की वह अवस्था हो सकती है और होनी भी चाहिये जिसे व्यूबर "प्रकृति के साथ जीवन" की संज्ञा देता है।* और इससे हमें शिक्षा मिलनी चाहिये। रहस्यवादी दुःख को जीतना अथवा यहाँ तक कि कुछ रूपों में उसे अलग करना भी चाहता है, किन्तु दुःख मिलन में क्रिया का अंग है, "मैं—तू" सम्बन्ध में इसे अवश्य ही कार्य करना होगा।

इन कारणों से, व्यूबर रहस्यवाद से दूर चला गया, जिसकी ओर वह आरम्भ में आकर्षित हुआ था। वह एकता के रहस्यवादी अनुभव को मानता है, जो उसने कभी अनुभव किया होगा : "मैं और तू" एकीकृत हो जाते हैं, मानवता, जिसकी पहले देवत्त्व से तुलना हुई थी, इसमें मिल जाती है—उत्कर्ष, देवत्त्व प्राप्ति, और प्राणी का अकेलापना सामने आया है। किन्तु वह इस अनुभव को

---

* पृष्ठ १४० देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अस्वीकृत कर देता है, क्योंकि विश्वासों को हमारे सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त होना चाहिये।" जब प्रबुद्ध और परिश्रान्त मनुष्य भौतिक कार्यों के संरक्षण में वापस आ जाता है, और अपने हृदय के ज्ञान से दो स्थितियों पर विचार करता है, क्या वह यह पता लगाने के लिए बाध्य नहीं है कि उसका प्राणी अलग-अलग टुकड़ों में बँटा हुआ, और एक अंग सर्वनाश में लगा है ? इससे मेरी आत्मा को क्या मदद मिलती है कि इसे इस संसार से ऐक्य में फिर से वापस बुलाया जा सकता है, जबकि स्वयं विश्व का इस ऐक्य में कोई भाग नहीं है—"ईश्वर के आनन्द से जीवन को क्या लाभ मिलता है जो दो में विभक्त है ? यदि उस प्रचुर समृद्ध दिव्य क्षण का मेरे भौतिक क्षण से कोई सम्बन्ध नहीं है—तब इसका मेरे से क्या प्रयोजन है, जिसे अभी जीवित रहना है, पूरी गम्भीरता से इस पृथ्वी पर जीवित रहना है ? इस प्रकार उन मास्टरों को समझना है जिन्होंने आह्लादक "ऐक्य" के हर्षोन्माद का त्याग किया है* (पृ० ८४-५)। अनुभवातीत सत्ता तभी न्याय-संगत हो सकती है जबकि वह हमारे जीवन का यहाँ और अभी आधार होना सिद्ध करे क्योंकि हम उसे केवल अपने अस्तित्व के भीतर और उसके कारण जानते हैं।

सर्वेश्वरवाद को इन्हीं आधारों पर अस्वीकार किया गया है। "वह ईश्वर विश्व का अंग है, वह विश्व नहीं है अतः यह भी कि ईश्वर मुझमें है किन्तु ईश्वर "मैं" नहीं है। इस दृष्टि से "मैं" और "तू" का सम्बन्ध बना रहता है और सम्वाद तथा आत्मा तथा भाषा (आत्मा का प्रमुख कर्म) तथा अनन्त में शब्द। रहस्यवाद और सर्वेश्वरवाद दोनों में, ईश्वर का सम्प्रत्यय, सर्वग्राही बना दिये जाने के कारण मानव को खतरे में डालता है और इस प्रकार सामान्यतः गलत प्रतिक्रिया की ओर ले जाता है—"मैं" को स्व-केन्द्रित बनाकर इसे अन्य व्यक्तियों और अनुभवातीत सत्ता से बिलकुल अलग कर दिया जाता है। अथवा दूसरी तरह से और ब्यूबर की तरह कहा जाये तो : बाइबिल-सम्बन्धी अर्थ में विश्व का अर्थ हम शायद ही समझ पायें, हम केवल शब्दों को जानते हैं, अगर हम अन्तिम "तू" के रूप में ईश्वर के रचनात्मक कार्य का अनुभव नहीं करें तो हमारा जीवन, "मैं–तू" यह सम्बन्ध के स्तर तक ही सीमित रह जाने का भय है।

यह केवल "मैं–तू" सम्बन्ध ही है कि हम सच्ची धार्मिक श्रुति में हिस्सा ले सकते हैं। ब्यूबर के अनुसार श्रुति सच होती है, जब यह पता चलता है कि हम

*यह दूसरा कारण है जिससे अवैयक्तिक निर्वाण की रहस्यवादी सम्भावना सहित बौद्धधर्म को अस्वीकार किया जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"स्वीकृत" हैं, और इस प्रकार पूर्ण अस्तित्व से सम्बद्ध, जब इस बात की पुष्टि हो जाती है कि इस अस्तित्व का कोई अर्थ है, और जब इस अर्थ से हमारे जीवन का मूलभूत फल यहीं और इसी समय मिल जाता है न केवल बाद के जीवन में। वह हमेशा धर्म का मूल्यांकन इस प्रकार करता है कि यह इस संसार के सम्बन्ध में किस प्रकार विचार करता है और यह एक ऐसी कसौटी प्रस्तुत करता है जो विभिन्न धर्मों अथवा किसी धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का मूल्यांकन करने में हमें सहायता प्रदान कर सके। लेकिन हम श्रुति से विमुख हो जाते हैं क्योंकि धर्म का विकास तीन अवस्थाओं में होता है। पहला, जिसका हमने अभी उल्लेख किया है, ब्यूबर "जीवित श्रुति" की संज्ञा देता है, यह अविलम्ब क्रिया की ओर अग्रसर करती है; यह दस धर्मादेशों की अवस्था है। बाद में धर्म के रूपों पर बल दिया जाता है, फिर भी ये रूप प्रभावी हैं ? यह चर्च और कर्मकाण्ड के निर्माण की अवस्था है; यह अभी भी प्रचलित है, किन्तु यह, "यह" की ओर जा रही है। अन्ततः, धर्म केवल "न्यायसंगत" है—अर्थात् एक स्वीकृत सचाई के रूप में और इस प्रकार एक अमूर्त सिद्धान्त के रूप में, उससे अधिक नहीं, इस अवस्था में हमारे पास शब्द के बजाय केवल शब्द हैं। एक बार जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, जीवित श्रुति को पुनः प्राप्त करने का, धर्म को हमारे जीवन का अंग बनाने का, कोई दूसरा तरीका नहीं रह जाता, बल्कि मनुष्यों के साथ और ईश्वर के साथ "मैं–तू" सम्बन्ध का अनुभव रह जाता है।

मसीह को इतिहास के एक "केन्द्र" के रूप में देखने के लिए ईसाई धर्म को स्वीकार करने के आधुनिक मनुष्य के प्रयत्नों में सम्भवतः यह विचार एक बड़ी बाधा को दूर कर सकता है। हम ऐतिहासिक विचारधारा विकास सिद्धान्त के प्रति यहाँ तक कि प्रगति के विश्वास में इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि हमें इतिहास को एक निरन्तर विकास के रूप में देखना पड़ता है। तब इसे किसी घटना पर किस प्रकार केन्द्रित किया जाय, जो बहुत पहले घटी थी ? हमें ऐसा प्रतीत होना चाहिये कि उसके बाद जो कुछ हुआ है, उन सबके द्वारा बहुत पहले इसका स्थान ले लिया जा चुका है, किन्तु यदि हम "मैं–तू" सम्बन्ध का पूर्णरूप से अनुभव करें, तो यही हमारे जीवन का केन्द्र बन जाता है और सभी अनुभव इससे सम्बद्ध हैं; हम निरन्तर इसका उल्लेख करते हैं। इसके आधार पर पिछले अनुभवों को परिवर्तित करके भी, यह पूर्ण अस्तित्व के अर्थ की व्याख्या करता है अथवा पहली बार इसका अर्थ निकालता है। हमारे अनुभव, पारदर्शी जैसे हो जाते हैं।[1] एक अकेला वैयक्तिक मिलन बहुत महत्त्व का केन्द्र हो सकता है :

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यदि ईश्वर "तू" ! मसीह के रूप में मिल जाये तो यह केन्द्र कितना शक्तिशाली हो सकता है, क्योंकि ब्यूबर "तू" को अच्छी तरह जानता था; यदि हम एक बार उससे "तू" के रूप में मिल लें, तो वह केन्द्र बन जायगा, जिससे सम्पूर्ण इतिहास सम्बद्ध होना चाहिये।

ब्यूबर ईसाई नहीं है, बल्कि एक दृढ़ यहूदी है, वह जैसस की बात करता है, मसीह की नहीं। वह सभी पैगम्बरों में जैसस को महान्तम मानता है, किन्तु एक मध्यस्थ के रूप में नहीं, ईश्वर के पुत्र के रूप में नहीं। उसे ईश्वर को नाम देने में आपत्ति है और मोसेज "मैं हूँ, मैं कौन हूँ" का ईश्वर से उत्तर चाहता है। फिर भी, यह मात्र घटना नहीं है कि ब्यूबर ने ईसाई धर्मतत्त्वज्ञों को इतना अधिक प्रभावित किया; फिर से जीने के लिए, ईसाई धर्म को पुनः जाग्रत करने के लिए, लोगों को यहूदीवाद की अवस्था से, पूर्वविधान की अवस्था से होकर एक बार फिर गुजरना होगा। नामरहित ईश्वर का सीधा प्रभाव सम्भवतः आधुनिक मनुष्य के लिए ईसाई धर्म की अपेक्षा कम कठिनाइयाँ प्रस्तुत करता है, इससे ईश्वर के कुछ अति मानवत्त्वारोपी प्रतिरूप भी दूर हो जाते हैं (जो विश्वासकर्त्ता की अपेक्षा बाहरी व्यक्ति को रिक्ततर प्रतीत होते हैं) और इस प्रकार ईसाई धर्म में वह भव्यता पुनः प्राप्त करने में सहायता मिलती है जिसकी नीट्त्शे में कमी थी और जिसके लिए कीर्केगार्ड ने संघर्ष किया। इससे हम ब्यूबर की छानबीन—कि उद्देश्य समस्याओं का हल नहीं है जैसाकि विज्ञान में है बल्कि समन्वय और मोक्ष है—को स्वीकार करने में समर्थ होते हैं।

किन्तु एक बात है जिसकी ब्यूबर चर्चा नहीं करता है—किसी और मूलभूत अनुभव से स्वयं "मैं–तू" सम्बन्ध का उद्भव; इसे चरम और निरपेक्ष माना जाता है। मुझे आशा है कि हमारे विचार-विमर्श से इस बात का पता चल गया है कि यह धारणा कहाँ तक उपयोगी है, और अब हम समझ गये हैं कि इस सम्बन्ध का क्या अर्थ है, हम यह और कह सकते हैं कि यह भी पूर्णतः न्याय-संगत है। "मैं–तू", स्पष्टः "मैं–वह" की अपेक्षा अधिक बुनियादी है, क्योंकि "यह" में से व्यक्ति (ब्यूबर के अर्थ में) और अनुभवातीत सत्ता को अलग कर देना होगा इस प्रकार यह अपकर्षण और सरलीकरण द्वारा प्राप्त किया जाता है, जबकि तू, जो व्यक्ति और अनुभवातीत सत्ता पर आधारित है, फिर भी इसमें प्रकृति और बाह्य विश्व को कभी शामिल नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, अगर हम वास्तव में एक बार किसी व्यक्ति से मिल लें, व्यष्टित्व के सभी सापेक्ष तत्त्वों का महत्त्व समाप्त हो जाता है, इस प्रकार इस बात की पुष्टि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

होती है कि यह व्यक्ति ही है जो हमारे अस्तित्व के लिए मौलिक है । जैसाकि मेकमरे का कहना है : "यह कहना निरर्थक है कि विभिन्न वर्गों, अथवा विभिन्न व्यवसायों के व्यक्तियों अथवा विभिन्न राष्ट्रीयताओं अथवा विभिन्न लिंगियों के बीच मित्रता नहीं हो सकती । वास्तव में ऐसा हो सकता है, और होता है । व्यक्तिगत सम्बन्ध उन सभी भेदों को दूर कर देते हैं जो लोगों में भिन्नता पैदा करते हैं । किन्हीं दो व्यक्तियों के बीच व्यक्तिगत मित्रता सम्भव है क्योंकि वह केवल इस तथ्य पर आधारित होती है कि वे दोनों व्यक्ति हैं ।

इस प्रकार ब्यूबर जो निरपेक्ष स्थापित करता है वह "अस्तित्वपरक" है, किन्तु यह उससे बहुत भिन्न है जिसे हमने "निरपेक्ष अस्तित्ववाद" की संज्ञा दी है । उसे उस दर्शन की गलतियाँ स्पष्टतः दिखायी देती हैं, उदाहरणार्थ, सार्त्र और हीडेगर के बारे में बोलते हुए वह कहता है : "उन दो में से जिन्होंने ईश्वर की मृत्यु के विषय में नीट्त्शे के मत को स्वीकार किया है, एक सार्त्र अर्थ और मूल्य के स्वतन्त्र आविष्कार के अपने अभ्युपगम के जरिये "एड एबसर्डम" लाया है । दूसरा हीडेगर, सच्चाई के विचार में से ईश्वर के पुनर्जन्म के सम्प्रत्यय का निर्माण करता है जो ऐतिहासिक समय के लुभावी जाल में फंस जाता है"[1] और इस प्रकार अपने आप को अनुभवातीत सत्ता से, जो ऐसे पुनर्जीवन की ओर ले जाती है, अलग कर देता है । इसलिए, दोनों को ही विनाशकारी होना होगा, जो ब्यूबर की उपलब्धियों के ठीक विपरीत है ।

ब्यूबर जब हमारे अपने समय के निदान पर आता है, विषाद के पैगम्बरों के समान ही दीखता है, वह उस शून्यता का वर्णन करता है जो हमारे लिए आवश्यकता से अधिक भय उत्पन्न करनेवाली है । क्योंकि इसके अनुसार, जैसाकि हमने देखा है, "मैं-तू" और "मैं-यह" सम्बन्ध मानव-अस्तित्व का निर्माण करते हैं, इसलिए प्रश्न केवल यह है कि दोनों में से कौन-सा, विशेष समय में वास्तुकार है और कौन-सा उसका सहायक । प्रश्न तो यह है कि क्या, "मैं-तू" का सम्बन्ध वास्तुकार रहता है, क्योंकि यह स्वयं स्पष्ट है अतः इसे सहायक के रूप में नियुक्त नहीं किया जा सकता । यदि यह आदेश नहीं देता तो यह पहले ही नष्ट हो रहा है । हमारे युग में, "मैं–यह" सम्बन्ध, विशाल रूप धारण करके सामने आया है, वस्तुतः निर्विरोध होकर शासक बन गया है । इस सम्बन्ध में "मैं", एक में जिसमें सभी चीजें हैं, जो सभी को बनाता है, सभी के साथ सफल होता है, यह "मैं", "तू" कहने में असमर्थ है, किसी प्राणी से अनिवार्यतः मिलने में असमर्थ है......(यह) स्वभावतः न तो ईश्वर को मान सकता है न किसी वास्तविक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नरपेक्ष को जो गैरमानव-कुल की अपेक्षा मनुष्यों में अपनेआप को अभिव्यक्त होता है। यह बीच में आता है और हमारा स्वर्ग का रास्ता रोक देता है।"[१]

काफी हद तक, यह निदान निश्चय ही न्यायसंगत है और यह निराशा-जनक लग सकता है, किन्तु हमारे लिए स्वर्ग के दरवाजे बिल्कुल बन्द नहीं हैं। इस प्रकार देखने पर "मैं–यह" की शक्ति, "मैं–तू" के लिए एक चुनौती है, और वैयक्तिक मिलन का प्रत्येक अनुभव, जिसे इस विश्वास के प्रकाश में और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है, सार्थक जीवन की ओर विनाश से दूर अग्रसर होगा। इसके अतिरिक्त ऐसे मिलन बिल्कुल ही नहीं रोके जा सकते। यहाँ अवस्तुता के प्रति प्रतिक्रिया है, जिसे सभी अस्तित्ववादी आवश्यक समझते हैं, किन्तु जिसका नीट्र्शे, सार्त्र और हीडेगर निर्माण नहीं कर सके। हमें अनु-भव को साक्ष्य के रूप में स्वीकार करना होगा; किन्तु यदि अनुभव को इसकी पूर्ण गहराई से देखा जाये, अस्तित्वाद आगे निकल जायगा, जैसाकि कीर्केगार्ड के सम्बन्ध में हमारे विचार-विमर्श से भी पता चला, जिन परिणामों की ओर हम देख रहे हैं—ठोस परिणामों की ओर जिन्हें स्वीकार करने का हमें अधिकार है।

इसके अतिरिक्त ब्यूबर के दृष्टिकोण में एक अन्य बहुत महत्त्वपूर्ण योग्यता है। वह न केवल वैयक्तिक सम्बन्धों को चर्चा के लिए प्रस्तुत करता है, जो एक बार उसकी शब्दावली समझ में आ जाने पर सम्भवतः अन्य की अपेक्षा अधिक सहायक है; उसने एक मार्ग की खोज की है जिसमें हम सार्थक बात कर सकते हैं, जिसे बहुधा अस्पष्ट रूप से अथवा घृणापूर्वक "रहस्यवादी" कहा जाता है। अनुभवातीत सत्ता एक धार्मिक अनुभव, अलौकिक अथवा ईश्वरीय यथार्थता, ईश्वर-प्रत्येक जो ये सम्प्रत्यय इंगित करने का प्रयत्न करता है, उनकी चर्चा करना कठिन है, ऐसा इसलिए और भी है कि हमारा युग किसी भी आध्यात्मिक वस्तु के बारे में इतना अनिश्चित है कि जो शब्द किसी परिभाषा की उपेक्षा करते हैं, उसकी और अधिक आवश्यकता लगती है। ब्यूबर दिन प्रति-दिन के अनुभव के आधार पर अनुभवातीत सत्ता पर चर्चा करने के लिए समर्थ बनाता है, जिससे हम अपनी परीक्षा कर सकते हैं, और ईश्वर के वास्तविक अनुभवों और रहस्य-वाद के भ्रामक प्रकार के बीच अन्तर स्पष्ट करने में भी। उसका दृष्टिकोण न तो निरपेक्ष है और न केवल दीक्षित के लिए; कुछ ही लोग इस मत को अस्वी-कार करेंगे कि उसकी युक्ति की कम से कम प्रारम्भिक अवस्थाएँ अर्थ देती हैं। इस प्रकार, यद्यपि वह ईश्वरीय अनुभव रखनेवालों को अनुभवों से सम्बद्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

करने में समर्थ बनाता है, जो सभी व्यक्तियों के लिए समान है, और यह अन्तिम "तू" को स्वीकार करने में योग दे सकता है जो जैसाकि ब्यूबर ने दावा किया है, हमें सम्बोधित करके इस समान आधार का निर्माण करता है। ईश्वर अधिक देर तक छिपा नहीं रह सकता, वह हम से फिर बात करेगा।

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

नौ

विज्ञान और धर्म में अबुद्धितत्त्व

हम ऐसी घटनाओं से घिरे हैं जिन्हें समझने में हम असमर्थ हैं। चाहे हम दैनिक अनुभव पर विचार करें या विज्ञान या दर्शन या धर्म पर, हमें हमेशा पास्कल की इस युक्ति की ओर लौटने के लिए बाध्य होना होगा "कि ऐसी वस्तुएं अनन्त हैं जो बुद्धि के परे हैं।"* जन्म की समस्या है, जिसमें अस्तित्ववादी पूर्वाधिकृत हैं—मेरा जन्म इस विशेष युग में, एक देश और परिवार में क्यों हुआ है, जिसका मैं वरण नहीं कर सकता और जिसके लक्षण और अधिकारों को मुझे स्वीकार करना है; फिर मृत्यु की समस्या है—मरने के लिए मेरा जन्म क्यों हुआ है? यह और कई अन्य तथ्य—कि हम एक ऐसे विश्व में रहते हैं, जिसका स्वरूप हमारे लिए प्रच्छन्न रहता है और इसमें एक सबसे छोटे पिण्ड पर, हम यह नहीं जानते कि भौतिक द्रव्य क्यों है, जीवन क्यों है—इस प्रकार के तथ्य किसी मूलभूत सन्दर्भ में, इस "क्यों" प्रश्न का उत्तर देने में असफल रहते हैं। फिर भी, ये अव्याख्येय घटनाएँ ही हमारे जीवन के आधार और संधार हैं। हमें उनकी शर्तें मान लेनी होती हैं और अगर हमारे अस्तित्व को सार्थक होना है तो उन्हें किसी न किसी रूप में अर्थपूर्ण होना होगा।

---

* पृष्ठ ९ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इन सभी घटनाओं को अबुद्धितत्त्व की संज्ञा दी जा सकती है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार, इसका अर्थ होता है "अयुक्तिसिद्ध, असंगत, विवेकशून्य"; यह एक ऐसी चीज है जो हमारी बुद्धि को ललकारती है, जिसे बुद्धि सन्तोषजनक रूप से समझ नहीं सकती। इसे अर्थशून्यता के बराबर रखा जा सकता है।

परन्तु अबुद्धितत्त्व का एक दूसरा अर्थ भी लगाया जा सकता है यथा, "अधितर्कनापरक"—कुछ ऐसी चीज जो एक असमाधेय समस्या, एक रहस्य रहता है, लेकिन फिर भी, एक प्रच्छन्न, उच्चतर अर्थ बतलाता है, जो तर्कबुद्धि के परे तो है, फिर भी सार्थक रूप में देखा जा सकता है। अस्तित्ववाद का वर्णन इस रूप में किया जा सकता है कि अबुद्धितत्त्व के इन दो सिरों के बीच इसे रख दिया गया है; जबकि निरपेक्ष अस्तित्ववादी, एक ऐसी चुनौती के रूप में अबुद्धितत्त्व पर बल देते हैं, जिससे एक गहरा अर्थ प्रकट हो, लेकिन अन्त में वे अर्थशून्यता को ग्रहण करने के लिए बाध्य होते हैं, जैसे कीर्केगार्ड, जैस्पर्श और ब्यूबर और प्रारम्भिक युग में जैसे पास्कल, उस क्षेत्र में एक ऐसा अर्थ खोज निकालते हैं जो बुद्धि के परे है।

चूंकि ये अव्याख्येय घटनाएँ अधिक आधारभूत घटनाएँ हैं, अतः प्रश्न यह है कि बुद्धितत्त्व शब्द के इन दोनों अर्थों में से कौन-सा अर्थ—असंगत या अधितर्कनापरक—हमारे अस्तित्व को अर्थ प्रदान करने के प्रयास में, किसी मानवीय प्रयोग की प्रासंगिकता के सम्बन्ध में निर्णय करने में हमारी सहायता कर सकता है। विशेषरूप से, यह उन दोनों अनुशासनों का मूल्यांकन करने में दार्शनिक की सहायता कर सकता है, जो दर्शन के बाहर है, लेकिन फिर भी किसी भी दार्शनिक विवेचन में मुख्यरूप से इसका दृष्टिगोचर होना अनिवार्य है, जैसाकि उन्होंने हमारे विज्ञान और धर्म में किया है।

परन्तु विज्ञान के सम्बन्ध में आगे विचार-विमर्श करने के पूर्व मैं एक सम्भावित भ्रान्ति का निवारण पहले ही कर देना चाहूँगा। हमें विज्ञान की सीमाओं को बतलाना था और हमें, इस अर्थ में, फिर ऐसा करना होगा कि हम इस बात का सुनिश्चिय करें कि इसका प्रयोग इसके उचित क्षेत्र से बाहर नहीं हुआ है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि यहाँ जिस दर्शन का प्रतिपादन किया गया है वह किसी रूप में विज्ञान विरोधी है, हालाँकि अस्तित्ववाद प्रायः है। और न "वैज्ञानिक" का हमारे वास्तविक करने का यह अर्थ है कि कोई वैज्ञानिक इन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सीमाओं से कभी अवगत है ही नहीं; कई वैज्ञानिक इन सीमाओं से अवगत हैं और कई वैज्ञानिक नहीं। दार्शनिक का सम्बन्ध एक अभिवृत्ति, एक विशेष प्रकार के अनुशासन से है न कि व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध में किये गये निर्णय से। लेकिन आज जबकि विज्ञान विजयी है यह उसके सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में से एक है कि वे विज्ञान द्वारा किये गये किसी गलत दावे को अस्वीकार करे। यह तो स्वयं विज्ञान के लिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सैद्धान्तिक कथनों से उस विज्ञान की प्रगति में रुकावट आ सकती है, जो निरन्तर परिवर्तनशील सिद्धान्तों पर आधारित है। वस्तुतः प्रकृति के सम्बन्ध में तत्त्वमीमांसा चिन्तनों को अनावश्यक बना करके विज्ञान के दर्शन को एक भारी बोझ से मुक्त किया है। लेकिन अब वैज्ञानिकों या अवैज्ञानिकों के लिए यह एकदम गलत है कि वे अपनी पारी में क्रमशः विज्ञान को अस्तित्व की एक सर्वग्राही तत्त्वमीमांसा व्याख्या बनायें या यह सुझाव रखें कि पूर्ण रूप से किसी चीज को समझने का यही एक तरीका है। विज्ञान के इसी भ्रान्तिजनक दार्शनिक विस्तार से हमारा सम्बन्ध है। इस प्रकार के भ्रान्तिजनक दावे प्रायः इस कारण से हैं कि एक आधारभूत तथ्य पर हम ध्यान नहीं देते—अर्थात् इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि आधुनिक विज्ञान ने मध्ययुगों की तर्कनापरक अभिवृत्ति को समाप्त कर दिया है और वह मूलभूत रूप से अबुद्धिवादी हो जाता है। पाण्डित्यवाद ने सम्पूर्ण अस्तित्व की सर्वग्राही तर्कनावादी व्याख्या प्राप्त करने का प्रयास किया था; प्रत्येक वस्तु के प्रथम कारण के रूप में ईश्वर था, जो कभी घटित हुआ, आद्यचालक के रूप में, सृष्टिकर्त्ता के रूप में गीत उत्पन्न करनेवाला था; चूँकि उस समय "ईश्वर" सम्प्रत्यय को पूर्ण रूप से इस रूप में स्वीकार किया गया जो निःसन्देह वास्तविक प्रकार की कोई चीज है, ये व्याख्याएँ बुद्धि परीक्षण से मानी हुई बात मालूम हुईं। फ्रांसिस बैकन ने आरम्भ में आधुनिक वैज्ञानिक विधि की परिभाषा दी थी जबकि उसने कहा था: "भौतिकी में वे (प्रयोजन कारण) असंगत हैं ...और विज्ञान की प्रगति में बाधक हैं"[1] और जब उसने निगमन के स्थान पर आगमन रखा। निगमन, "जो सामान्य से विशेष का अनुमान करता है", विशुद्ध रूप से तार्किक प्रक्रिया है, जबकि आगमन "विशेष उदाहरणों से सामान्य नियम का अनुमान करता है"[2] स्वयं बैकन के चिन्तन की अपेक्षा कम तर्कनापरक है, क्योंकि हम उन सभी उदाहरणों से अवगत नहीं हो सकते जो घटित होते है, अतः हम अपवादों के अस्तित्व की सम्भावना के साथ सामान्य नियम का रूप देते हैं। लेकिन आगमन आधुनिक विधि बन गया है। उसके विकास में एक और महत्त्वपूर्ण कदम गैलिलिओ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

का था, जिसने गति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सभी अनुमानों का खण्डन किया; विज्ञान का सम्बन्ध केवल वर्त्तमान गतियों के प्रेक्षण से होना चाहिये । इसके परिणामस्वरूप, विज्ञान "जड़ तथ्यों" की स्वीकृति, उनके प्रेक्षण, उनके महत्त्व, माप, परीक्षण पर आधारित है, जिसके सम्बन्ध में और कोई प्रश्न नहीं पूछा जा सकता । इस बात की कोई व्याख्या नहीं है कि ये तथ्य क्यों दिये जाते हैं; इस अबुद्धिवादी आधार को केवल मान लिया जाता है और उसके बाद बुद्धि का प्रयोग किया जाता है ।

प्रथम और द्वितीय अध्यायों में हमने विज्ञान के कई ऐसे उदाहरणों का उल्लेख किया है जो बुद्धि के परे जाते हैं—क्वान्तुम सिद्धान्त, विकास सिद्धान्त, विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सिद्धान्त ।* इन सभी मामलों में हमने ऐसे तत्त्वों को देखा जो बुद्धि की अवज्ञा करते हैं, जो वास्तव में असम्भव हैं । इन सभी सिद्धान्तों में जो आधारभूत तथ्य स्वीकार किया जाना है, वह एक प्रकार की अव्याख्येय अनियमितता की उपस्थिति है, जिससे परिवर्तन और विकास होते हैं । संक्षेप में, हम जानते हैं कि जो विकास विश्व को व्यवस्था की ओर ले जाता है वह अव्यवस्था से लाया जाता है, अप्रत्याशित घटनाओं और अन्धशक्तियों की सहायता से लाया जाता है, जबकि बुद्धि इस बात की माँग करती है कि व्यवस्था, मार्गदर्शक सिद्धान्तों के आधार पर व्यवस्था की सृष्टि करने के प्रयास से उत्पन्न हो ।

एक बार फिर उन उदाहरणों में से एक उदाहरण लिया जाय, विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमने दो सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है । एक सिद्धान्त यह है कि भौतिक द्रव्य आदि में अधिकाधिक सान्द्र था, और दूसरे सिद्धान्त के अनुसार बौद्धिक द्रव्य सम्पूर्ण दिक में बारीक रूप से फैला था ।† इन दोनों मामलों में, एक प्रकार की अनियमितता को, जिसे समझा नहीं जा सकता, विश्व की सृष्टि की प्रक्रिया आरम्भ करनी पड़ी थी । एक दूसरा सिद्धान्त भी है, वह है "सतत् सृष्टि का सिद्धान्त, जिसमें इस बात पर विश्वास किया जाता है कि अवस्तु से भौतिक द्रव्य की सृष्टि सतत् रूप से होती रहती है । प्रोफेसर फ्रेड व्होयल जो इस सिद्धान्त को मानते हैं, इस बात पर अधिकाधिक बल देते हैं कि यह वास्तव में, अवस्तु से परमाणु की सृष्टि है ।" समय-समय पर लोग यह पूछते हैं कि सर्जित भौतिक द्रव्य कहाँ से आता है । यह कहीं से नहीं आता । भौतिक

---

* पृष्ठ २-३, २०-३ देखिये ।
† पृष्ठ २१-२ देखिये ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

द्रव्य केवल प्रकट होता है—इसकी सृष्टि की जाती है। एक समय था जब विभिन्न परमाणुओं से निर्मित भौतिक द्रव्य का अस्तित्व नहीं था और बाद में उसका अस्तित्व हुआ।'[1] यह एक दूसरे सुस्थापित दार्शनिक दावे का खण्डन करता है: कि अवस्तु से किसी चीज की सृष्टि नहीं हो सकती। वास्तव में यह भी असम्भव है; अगर अवस्तु से किसी चीज की सृष्टि हो सके तो इसमें निश्चित सृजनात्मक शक्तियाँ होंगी और इस प्रकार यह अवस्तु नहीं रह जायेगी।

विज्ञान में हम जहाँ कहीं भी देखें, हम ऐसा अबुद्धितत्त्व पायेंगे। अगर हम अन्तिम उदाहरण लें तो देखेंगे कि सापेक्ष-सिद्धान्त में काल और दूरी "सापेक्ष" हो गये हैं, अर्थात् उनका विस्तार स्थिर नहीं रह गया है, प्रत्युत यह अन्य कारकों पर आश्रित है। फिर भी, यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रकाश की चाल पूर्णतः स्थिर है, हालाँकि न तो इस प्रकार की स्थिरता, न निरपेक्षता स्थापित करने का कोई तरीका रह गया है, जैसाकि निकोलाय हार्टमैन कहता है : "उस प्रकाश की चाल की स्थिरता के बारे में हम क्या विचार कर सकते हैं जिनका अस्तित्व दिक् और काल में माना जाता है, जो सापेक्ष हो गये हैं ? चाल की स्थिरता का अर्थ यह होता है कि समान अवधियों में समान दूरियाँ निरन्तर काटती हैं, लेकिन अगर काल और दिक् का विस्तार हो सकता है और वह सिकुड़ सकता है तो "समान" अवधियाँ और "समान" दूरियाँ क्या हैं ? यह निष्कर्ष, जो प्रकाश की चाल की निरपेक्ष स्थिरता की ओर संकेत करता है, एक ऐसी अनिवार्य कठिनाई में पड़ जाता है कि इस परिणाम से स्थिरता और अस्थिरता की सम्भावना की पूर्व कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं, यह सिद्धान्त स्वयं अपनी पूर्व कल्पनाओं का अन्त कर देता है"[2] उस तथ्य को, जो बुद्धि की अवज्ञा करता है, स्वीकार ही करना है।

अतः जिस रूप में विज्ञान अबुद्धितत्त्व को शामिल करता है, वह मानवीय अनुभूति की दृष्टि से सर्वथा असन्तोपजनक है, और इससे यह और भी आवश्यक हो जाता है कि इसकी सीमाओं को हम मानें। अगर यह नहीं किया जाता तो विज्ञान में यह अबुद्धितत्त्व एक बहुत बड़े खतरे का द्योतक है। न केवल भौतिकी में, प्रत्युत अधिकाधिक रूप से जीवविज्ञान और शरीरविज्ञान में—विज्ञान भौतिक जगत की आधारभूत रचना में अधिकाधिक व्याप्त हो गया है और उसने उसे प्रभावित किया है; अब बैकन और गेलिलियो की चेतावनियों पर ध्यान नहीं दिया जाता, जैसाकि विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त हैं, उनसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पता चलता है। लेकिन अबुद्धितत्त्व निरर्थक ही रह जाता है; मानवीय अस्तित्व के अनिवार्य आधारों पर धावा बोल दिया जाता है और उन्हें अनर्गल बना दिया जाता है। प्रकृति पर आधिपत्य जमाने के लिए हमें समर्थ बनाया जाता है लेकिन हम—जब तक कि विज्ञान का कोई प्रतिभार न हो—अविचार्य कथनों और अमानवीय संख्याओं के शिकार बन जाते हैं और इस प्रकार हम स्वयं अपने से अपरिचित रह जाते हैं; आन्तरिक अनुभूतियों, मूल्यों, नैतिकता और दर्शन को नष्ट कर दिया जाता है, क्योंकि अबुद्धितत्त्व अपना सारा मूल्य और अर्थ खो बैठता है, जैसाकि विज्ञान में इस बात की चर्चा हुई है। कहाँ तक खतरा बढ़ जाता है, इसका पता इस बात से लगाया जाता है कि असंगति, निरपेक्ष अस्तित्ववाद, (जो हालांकि विज्ञान का विरोधी है, फिर भी हमारी वर्त्तमान स्थिति को स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित करता है और कला जिसे सबसे पहले, अर्थ की अनुभूति करने में सहायक होना चाहिये) दोनों में, स्वयं में एक मूल्य हो गयी है।

अतः हमें इस तथ्य से अवगत रहना चाहिये कि वैज्ञानिक ज्ञान वह सत्य नहीं है जिस पर हम जीवित रह सकते हैं। अबुद्धितत्त्व का परिहार नहीं किया जा सकता; लेकिन अगर हमें सार्थक जीवन बिताना है तो अबुद्धितत्त्व को अधितर्कना-परक होना होगा अर्थात् अनुभवातीत सत्ता का सूचक होना होगा। हम सम्पूर्ण सत्य को समझने में असमर्थ हैं; जो ज्ञान हम प्राप्त कर सकते हैं वह सीमित है; हम केवल सत्ता के पक्षों को समझ सकते हैं। फिर भी आधारभूत रूप से सत्य एक है और इसका प्रत्येक पक्ष इसके स्वरूप को प्रतिबिम्बित करता है। अगर बिल्कुल भिन्न प्रकार के ज्ञान के रूप में विज्ञान की जानकारी नहीं प्राप्त की जाती है बल्कि सत्य के एक पक्ष के रूप में इसे स्वीकार किया जाता है तो यह पक्ष सम्पूर्ण सत्य के सम्बन्ध में हम पर निष्कर्ष लादेगा और इस प्रकार सम्पूर्ण सत्य जिसमें वह बात भी सम्भव है जिस पर हम जीवित रहते हैं, अवैयक्तिक बनने और अपना मूल्य खोने के खतरे में पड़ जायेगा। अबुद्धितत्त्व के अन्य पक्षों पर विचार करने के बाद, हम इस बात पर लौट आयेंगे।

धर्म भी अस्तित्त्व की इन समस्याओं का समाधान नहीं कर पाता; यह पूर्ण रूप से तर्कनापरक व्याख्याएँ प्रस्तुत नहीं करता, लेकिन यह आन्तरिक अनुभूतियाँ उत्पन्न करता है जो अबुद्धितत्त्व को अर्थ प्रदान करती हैं। यह प्रक्रिया न तो असंगत है, न "रहस्यात्मक", न समझने में कठिन; दैनिक जीवन के सन्दर्भ में इसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समझा जा सकता है जैसा कि धर्म के वाहर क्षेत्र से लिये गये कुछ उदाहरणों से पता चल सकता है।

उदाहरण के लिए, दिक् और काल की समस्या है, जिसके वारे में हमने अभी उल्लेख किया है कि सापेक्ष सिद्धान्त में यह एक वाधा है। इन दो सम्प्रत्ययों की न तो पूर्ण रूप से व्याख्या की जा सकती है, न ही उनकी व्याख्या की गयी है। और निश्चित रूप से हम यह नहीं कह सकते कि दिक् और काल का अस्तित्व है। लेकिन उनका अर्थ उस समय निकल सकता है जव उन्हें अस्तित्वात्मक रूप में देखा जाये।

वाह्य सत्ता में दोनों सम्प्रत्यय, विशुद्ध रूप से आकारिक हैं और सम्पूर्ण रूप से अमूर्त हैं, जिससे उन्हें मापा जा सकता है और संख्याओं द्वारा उन्हें अभिव्यक्त किया जा सकता है। हमारे जीवन में भी, ये माप यथार्थ हो जाते हैं; हम दिक्-पिण्ड हैं, किसी निश्चित स्थान पर रहते हैं और हमें दूरियाँ पार करनी होती हैं; दिन और रात से, कलेण्डर से, ऋतुओं और उत्सवों से, वृद्ध होने से, काल की अवधियों को यथार्थ वना दिया जाता है। किन्तु इससे हमारे लिए दिक् और काल का महत्त्व समाप्त नहीं हो जाता।

काल की अनुभूति—इसे पहले लिया जाय, क्योंकि आन्तरिक अनुभूति के साथ इसका अधिक निकट का सम्वन्ध है—इसे विल्कुल स्पष्ट करती है। अगर हम किसी ऐसी चीज का अनुभव करते हैं जो वहुत ही रोचक या महत्त्वपूर्ण है तो समय जल्दी से गुजरता है और हमें घण्टा या दिन गुजरने का शायद ही ध्यान होता है, लेकिन अगर हम ऊवे हुए हैं या कोई नेमी कार्य करते होते हैं या कोई ऐसा कार्य करते हैं जिसे हम पसन्द नहीं करते तो समय सचमुच में वहुत देरी से गुजरता है; चन्द मिनट घण्टों के समान प्रतीत हो सकते हैं और ऐसा लग सकता है कि दिन का कोई अन्त ही नहीं लेकिन पश्चदर्शन में उल्टा प्रभाव पड़ता है; क्योंकि वे अवधियाँ जो प्रतीयमानतः अनन्त होती हैं, जिनमें हमें सन्तोषजनक अनुभूति नहीं हुई थी, हमारी स्मृति में संकुचित हो जाती हैं या कभी तो लुप्त ही हो जाती हैं, जवकि कुछ घण्टे या दिन, जो हमारे लिए महत्त्वपूर्ण थे या घटनाओं से भरे थे, वास्तविक रूप से लम्वे होने की अपेक्षा अधिक लम्वे प्रतीत होते हैं। अतः काल की अनुभूति इसकी केवल परिमेय लम्वाई पर निर्भर नहीं करती।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

यह हमारे जीवन के लिए भी समान रूप से सत्य है। हम कई साल तक जीते हैं लेकिन इससे सारी कहानी समाप्त नहीं हो जाती; हम अपने समय का उचित उपयोग कर सकते हैं और इस प्रकार या तो पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते हैं और उसे समृद्ध कर सकते हैं या अपने समय को नष्ट कर सकते हैं और इसे खो सकते हैं। समय कोई सरल तत्त्व नहीं है; इस पर विजय प्राप्त करनी है। इससे समय की अनुभूति, अन्तर्विवेक के समान, एक निरन्तर अन्तःप्रेरणा बनती है। हम अनुभव करते हैं कि हमें समय का सदुपयोग करना चाहिये जिससे हम इसे खो न दें (अन्तःप्रेरण अन्तर्विवेक के समरूप नहीं है, क्योंकि इसकी सन्तुष्टि न केवल नैतिकता से हो सकती है, बल्कि एकदम भिन्न कार्यों या संस्कारों—उदाहरण के लिए तीव्र इन्द्रियजन्य अनुभूतियों या साहसिक कार्यों, रोचक क्रियाओं या सौन्दर्य के प्रभाव से भी हो सकती है। लेकिन यह सम्भवतः अन्तर्विवेक की अपेक्षा अधिक तीव्र और स्थिर है। अतः अगर हम समय का उचित प्रयोग करने में असमर्थ हैं तो हम इसकी निरन्तर चुनौती से छुटकारा प्राप्त करने के लिए, इसे "नष्ट करना" चाहते हैं, हम यह भूल जाना चाहते हैं कि यह हमारे हाथ से निकला जा रहा है। एक बार जब इस चुनौती की सन्तुष्टि नहीं होती तो समय शत्रु बन जाता है और हमें इसके विरुद्ध संघर्ष करना होता है। धैर्य के साथ उचाट की लम्बी अवधि सहन करना, कम से कम अवांछित मात्रा तक किसी के भावों को कम किये बिना, बहुत ही कठिन है, फिर भी न तो केवल समय नष्ट करके चुनौती को पूर्णरूप से कभी समाप्त किया जाता है, न उस निरर्थक अध्यव्यवसाय में आसक्त होकर ही समाप्त किया जाता है जिस ओर भी यह ले जा सकता है; नष्ट होने का ज्ञान निरन्तर वर्त्तमान रहता है। पूर्ण सन्तुष्टि तभी प्राप्त हो सकती है जब हम समय को उचित अर्थ-तत्त्व प्रदान करने में समर्थ हों।

वास्तविक अनुभूति के रूप में दिक् भी एक चुनौती प्रस्तुत करता है—इस तथ्य के विपरीत कुछ करने का अन्तःप्रेरण कि हम उस दिक् की तुलना में अत्यन्त सूक्ष्म हैं जो हमारे चारों ओर है। महान् वीर का आदर्श, जो अलेग्जेण्डर या नेपोलियन की तरह दिक् पर विजय प्राप्त करके, लोगों पर अधिकार जमा करके और इस प्रकार अपनी शक्ति बढ़ा करके अपने आकार में वृद्धि करने के लिए निकल पड़ता है और अपनी महिमा प्राप्त करता है, वीरों और वीर पुजारियों दोनों के लिए सबसे शक्तिशाली आदर्शों में से एक रहा है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से दिक् पर विजय प्राप्त करना और उसे प्राप्त करना, पृथ्वी के विशाल आकार की सरलतम प्रतिक्रिया प्रतीत होती है। उन तकनीकी विकासों में भी वही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अन्तःप्रेरण काम करता है। जो अधिकाधिक गति से दिक् पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। लेकिन ये सभी प्रयास व्यर्थ हैं; अगर कोई मनुष्य सम्पूर्ण पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर ही ले और अगर वह बहुत ही कम समय में इसके दूरतम बिन्दु तक पहुँचने में समर्थ भी हो जाये, जैसाकि अब वह हो गया है, वह अभी भी विश्व की तुलना में अत्यन्त सूक्ष्म है और बाह्य दिक् पर धावा बोलने से शायद ही इस स्थिति में सुधार हो।

दिक् की चुनौती एक भिन्न उत्तर की अपेक्षा रखती है। हम सम्भवतः इस बात की आशा नहीं कर सकते हैं कि स्थान-सम्बन्धी अर्थ में, हम दिक् के समान हों, लेकिन हम विश्व में अपना उचित स्थान पाने की आशा रख सकते हैं। अगर कोई व्यक्ति अपना उचित कार्य पूरा करता है, अगर वह कोई ऐसा काम करता है जिसे वह अविवाद्य रूप से महत्त्वपूर्ण समझता है तो वह एक ऐसा सामन्जस्य प्राप्त कर सकता है, जिसमें उसकी आन्तरिक निश्चितता उसकी बाह्य सूक्ष्मता को नगण्य बनाती है। आज प्रतीत होता है कि काल की अपेक्षा दिक् की चुनौती की अनुभूति कम होती है, लेकिन अभी भी इसकी अनुभूति होती है और इसकी चेतना होनी चाहिये, क्योंकि यह हमें अपने कार्यों के लिए एक अनिवार्य कसौटी प्रदान करती है। दिक् की अनुभूति इतनी तीव्र है कि जब हम इसके प्रकाश में अपने प्रयासों की जाँच करते हैं तो हम वास्तव में इस बात से अवगत हो जाते हैं कि हमारे प्रयास उचित हैं या नहीं। दिक् के प्रतीयमान शून्यकारी विस्तार का सामना करने की भी आशा हम कैसे कर सकते हैं। इस प्रकार जबकि काल ऐसे कार्य प्रारम्भ करने के लिए हमें अन्तःप्रेरित करता है जो महत्त्वपूर्ण हैं, दिक् अधिक प्रत्यक्षरूप से इस बात की ओर संकेत करता है कि यह महत्त्व कहाँ मिल सकता है—उन कार्यों और अनुभूतियों में जो यथार्थ रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। सच तो यह है कि दिक् निरपेक्ष मूल्यों की ओर ले जाता है।

काण्ट ने अपने उस प्रसिद्ध कथन में दिक् और काल की चुनौती को सबसे अधिक सुन्दर रूप से व्यक्त किया है, जिसका सामान्य रूप से एक ही वाक्य उद्धृत किया जाता है। जो बात हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है उसे स्पष्ट करने के लिए अबुद्धितत्त्व को अर्थ प्रदान करने की आवश्यकता से, मैं यहाँ इसे अधिक पूर्णरूप से उद्धृत करना चाहूँगा। इस कथन को भी दैनिक अनुभव की सहायता से समझा जा सकता है, लेकिन इसे समझने के लिए यह भी समझना है कि धार्मिक अनुभूतियाँ कैसे काम करती हैं। काण्ट कहता है:

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

"मन में दो ऐसी चीजें होती हैं, फिर भी महत्त्वपूर्ण वैयक्तिक अनुभूतियों में हम निश्चय ही अभी भी एक ऐसा सत्य खोजते हैं या एक ऐसे सत्य से मिलते हैं, जिसका वर्णन केवल निरपेक्ष मूल्य के रूप में हो सकता है। इस दावे का सत्य एक प्रकार का मूल्य है, का, यह अर्थ होता है कि हमें जिनके प्रति श्रद्धा और विस्मय हमेशा नवीन रहते हैं और वढ़ते ही जाते हैं, जिन पर हम प्रायः और नियमित रूप से चिन्तन करते हैं : ऊपर तारों से खचित आकाश और भीतर नैतिक नियम। मुझे इस रूप में उनकी खोज करना और अनुमान लगाना नहीं होता है जैसेकि वे अन्धकार में प्रच्छन्न हों या मेरे क्षितिज के परे अनुभवातीत क्षेत्र में हों; मैं उन्हें अपने सामने देखता हूँ और अपने अस्तित्व की चेतना के साथ प्रत्यक्ष रूप से उनका सम्बन्ध जोड़ता हूँ। पहला, उस स्थान से आरम्भ होता है, जिसपर, बाह्य-इन्द्रिय-जगत् में, मेरा निवास है, और कई विश्वों और मण्डलों के मण्डल के साथ असीम विस्तार तक, और इसके अतिरिक्त, असीमकाल की आवर्त्ती गति, इसके आरम्भ और अवस्थिति में मेरा सम्बन्ध वढ़ाता है। दूसरा, मेरी अदृश्य आत्मा, मेरे व्यक्तित्व से आरम्भ होती है और मुझे एक ऐसे जगत् में प्रदर्शित करता है जिसमें यथार्थ असीमता है, लेकिन जो बोध द्वारा ही अनुमार्गणीय है। अनगिनत वहुसंख्यक जगत् का पहला विचार अस्तित्व मिटाता है जैसेकि एक-एक पशु के रूप में मेरा महत्त्व है, जिसे कुछ समय के लिए जीवन-शक्ति प्रदान करके हालाँकि कोई यह नहीं जानता कि कैसे—उस भौतिक द्रव्य को, जिससे इसका निर्माण हुआ उस ग्रह में वापस दे दिया गया हो, जिसमें इसका निवास है (विश्व का मात्र एक कण)। इसके विपरीत, दूसरा, मेरे व्यक्तित्व द्वारा एक वौद्धिक प्राणी कें रूप में मेरे मूल्य को अत्यधिक ऊपर उठाता है, और इस व्यक्तित्व में नैतिक नियम मेरे लिए पशुवृत्ति और सम्पूर्ण इन्द्रियगोचर जगत् से मुक्त जीवन प्रकट करता है।"[1]

इसमें एक व्याघात है जिसे दूर नहीं किया जा सकता। ऐसी समस्त व्याखाएँ निरर्थक हो गयी हैं और हो जायेंगी जो मनुष्य की वाह्य नगण्यता और उसके आन्तरिक महत्त्व के बीच खाई करने का प्रयास करती है, क्योंकि वे सब दो में किसी एक पक्ष पर अधिक वल देंगी ही। किन्तु अगर हम व्याघात को उसी रूप में स्वीकार कर लें और "पूर्ण विरोधाभास" के रूप में एक साथ इन दोनों व्याघाती विचारों पर विचार करें, तो हमें विश्व के ऐश्वर्य और मनुष्य की तुच्छता दोनों की अनुभूति होगी, जो किसी भी तर्कनापरक व्याख्या की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और अर्थपूर्ण होगी। यह उस अधितर्कनापरक क्षेत्र को वास्तविकता प्रदान करेगी जो उन शब्दों के परे जाता है जिनकी प्रत्यक्ष रूप से अभिव्यक्ति हो सकती है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

जहाँ हम दिक् और काल के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रियाओं पर विचार करते हैं, तब उस समय भी देखा जा सकता है कि इस व्याघात को स्वीकार करना है। काल मृत्यु की ओर ले जाता है, जिससे जहाँ तक दिक् और काल में हमारा अस्तित्व है, निश्चय ही हमें नष्ट कर दिया जाता है। लेकिन हम में कुछ ऐसी चीज है जिसे दिक् का आकार कुचल नहीं सकता, क्योंकि इसका आकार से सम्बन्ध नहीं होता; इस "आन्तरिक नैतिक नियम" में यह "कुछ चीज" बोधगम्य हो जाती है जो किसी एक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक स्थायी है। तो क्या दिक् और काल में हमारी मृत्यु सचमुच में हमें नष्ट करती है ? काण्ट कहता है कि नैतिक नियम एक ऐसी "यथार्थ असीमता" की ओर संकेत करता है जो दिक् और काल दोनों की अनन्तता के परे है।

इन सब का यह अर्थ होता है कि दिक् और काल, जो वाह्य सत्ता में विशुद्ध रूप से अमूर्त और आकारिक हैं, उस समय "निरपेक्ष" नहीं होते जब वास्तविक रूप से इनकी अनुभूति की जाती है। वे इस बात की अपेक्षा रखते हैं कि "सचाई" के सामने हमें जीवित रहना चाहिये, उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहिये यथार्थ मूल्य का, विशेष रूप से शुभ जैसा, कार्य करना चाहिये, लेकिन वे पारस्परिक निरपेक्ष मूल्यों में एक अन्य मूल्य की ओर भी संकेत करते हैं, क्योंकि अनुभवातीत सत्ता की अनुभूति से, "सौन्दर्य" का प्रभाव हमें दिक् और काल का सामना करने में समर्थ बना सकता है। ये सभी अनुभूतियाँ अबुद्धिवादी रहती हैं, क्योंकि उनमें वे व्याघात शामिल हैं, जिन्हें तर्कनापरक रूप से दूर नहीं किया जा सकता, लेकिन चूंकि हमें उस मार्ग में अबुद्धितत्त्व मिलता है जिस ओर दिक् और काल निर्दिष्ट करते हैं, अतः इसका अर्थ निकलता है। इससे हम समस्त सत्ता के मूल तक पहुँचते हैं।

मेरा दूसरा उदाहरण उन प्राचीन दार्शनिक समस्याओं में से एक है, जिनका शताब्दियों से समाधान नहीं हो पाया है, वह है आवश्यकता और स्वतन्त्रता की समस्या। हमने कई बार* इसकी चर्चा की है लेकिन मैं उन विभिन्न विचारधाराओं को एक साथ अब मिलाना चाहूँगा, जिनके सम्बन्ध में हमने विचार किया है। एक बार फिर हमारा सामना अबुद्धितत्त्व से हो जाता है, लेकिन हम इसे अर्थ प्रदान कर सकते हैं।

---

*पृष्ठ ५-६, १३-१४, ६१-६४, १२०-१२२ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

बाह्य सत्ता में, जैसाकि प्राकृतिक विज्ञान समझता है, आवश्यकता प्रधान है। रिक्तियाँ हैं, अप्रत्याशित घटनाएँ हैं और आकस्मिकताएँ हैं, लेकिन वैज्ञानिक इन रिक्तियों को भरने का प्रयास करता है; जितनी कम रिक्तियाँ होंगी उतने अच्छे प्रकार से वह समझ सकेगा। चूँकि इस विधि का उद्देश्य आवश्यकता की खोज करना है, अतः वह स्वतन्त्रता का कभी कारण नहीं वता सकतीं; इस दिशा में वह वहीं तक जा सकता है जहाँकि वह इलेक्ट्रॉन के कार्य की अनिर्धार्यता का वरण करता है। लेकिन इससे भी उस मानवीय स्वतन्त्रता का कारण वतलाया जा सकता, जो केवल अनिर्धार्यता नहीं है बल्कि वरण, निर्णय और कार्य का एक चेतन निर्देशन है। इलेक्ट्रॉन की कहलानेवाली जो स्वतन्त्रता है, वह वास्तव में अयथार्थ नामकरण है, क्योंकि हालाँकि हम इसके दूसरे कार्य के सम्बन्ध में भविष्य-वाणी नहीं कर सकते, फिर भी इसके कार्य का निर्धारण उन कारकों से होगा जिन्हें इलेक्ट्रॉन वरण नहीं करता। मनोवैज्ञानिक यह दिखलाते हैं कि निश्चय ही हमारे कार्यों का भी प्रायः निर्धारण उन कारकों से होता है जिनपर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं रहता लेकिन हमने देखा है कि यह सम्पूर्ण रूप से सत्य नहीं है।

हालांकि वस्तुनिष्ठ विधि की सहायता से स्वतन्त्रता की खोज नहीं की जा सकती, फिर भी इसे आत्मनिष्ठ विधि का आधार बनाना सही है, क्योंकि अगर हम आरम्भ से ही उसकी स्वतन्त्रता की कल्पना न कर लें तो मनुष्य को समझने में हम कभी समर्थ नहीं होंगे। कोई भी—मैं भी नहीं, अगर मैं नियतत्त्ववाद में विश्वास रखता हूँ–मुझे अन्ततः विश्वास नहीं दिला सकता कि मुझमें स्वतन्त्रता का पूर्ण अभाव है, उदाहरण के लिए, अगर मैं अपना हाथ उठाना चाहूँ तो मैं नहीं उठा सकता। यह उदाहरण नगण्य लग सकता है, लेकिन यह वास्तविक रूप से मौलिक है, क्योंकि इसका प्रयोग मेरे उन सभी निर्णयों में होता है, जिनमें मेरा नैतिक निर्णय भी शामिल है। मुझे अक्सर यह भ्रान्ति हो सकती है कि मैं उस समय स्वतन्त्र हूँ जब वाह्य या आन्तरिक बाध्यताओं के वास्तव में वशीभूत हो रहा होता हूँ। लेकिन इस प्रकार की भ्रान्तियाँ उस मौलिक तथ्य को अमान्य नहीं ठहरातीं कि मैं निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र हूँ, कि मैं इस प्रकार की बाध्यताओं से अवगत हो सकता हूँ और निर्णय करते समय उन पर ध्यान दे सकता हूँ। अन्यथा मुझे उत्तरदायित्व की समस्त भावनाओं की अवहेलना कर देना होगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आत्मनिष्ठ विधि हमें स्वतन्त्रता के उन दो रूपों में अन्तर स्पष्ट करने के लिए समर्थ बनाती है, जिन्हें हमने वरण स्वातन्त्र्य और स्वतन्त्रता-वरण की संज्ञा दी है।* स्पष्टतः स्वतन्त्रवरण को किसी स्वतन्त्र निर्णय या कार्य के पहले आना चाहिये, किन्तु हमने कहा है कि हम गलत वरण कर सकते हैं,—धन, जीवन में सफलता, किसी प्रकार की धर्मान्धता—जो हमें फिर गुलाम बनाते हैं। अस्तित्व-वादियों की भूल यह थी कि उन्होंने केवल वरण-स्वातन्त्र्य को स्वीकार किया और यह नहीं देखा कि स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति उन कार्यों में होनी चाहिये, जो मनुष्य की वास्तविक प्रकृति के अनुरूप हों; वे इस तथ्य को कि हम मानवप्राणी हैं स्वीकार करना नहीं चाहते, जो उस दिशा की ओर निर्दिष्ट करती है, जिस ओर स्वतन्त्रता का प्रयोग करना है। स्वतन्त्रता की परिभाषा इस रूप में दी जा सकती है कि जो कार्य अपनी वास्तविक प्रकृति के अनुरूप किया जाय, जिसपर कोई बाहरी बाध्यता या प्रभाव न हो। लेकिन इससे यह प्रश्न उठता है, जिसकी उग्र अस्तित्ववादियों ने अवहेलना की—मनुष्य की वास्तविक प्रकृति क्या है ?

हमारी छानबीन से सम्भवतः अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि मनुष्य वास्तव में दो विश्वों का नागरिक है—अर्थात् वह जैविक विकास की रचना है और इस प्रकार उसमें पाशविक वृत्ति है और उस पर अनुभवातीत सत्ता का आधि-पत्य हो जाता है, अतः उसमें आध्यात्मिक प्रकृति भी होती है। इसी द्वैत से वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों विधियों का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है जिनसे मानवप्राणी के ये दो पक्ष और अधिक मूर्त हो जाते हैं।

उसकी पाशविक और आध्यात्मिक दोनों प्रकृतियाँ एक ही प्रकार से समझी जा सकती हैं। जब मनुष्य इन दोनों में से किसी एक की पूर्ण अभिव्यक्ति देने में सफल हो जाता है तो उसे अधिक सन्तुष्टि मिलती है; हम मनुष्य की जीवनशक्ति और उसके साधु स्वभाव दोनों की प्रशंसा करते हैं। व्यावहारिक जीवन में दोनों प्रकृतियों पर प्रतिबन्ध भी लगाना है; सभी पाशविक वृत्तियों को पूर्ण अभिव्यक्ति देना विनाशकारी भी सिद्ध होगा और अगर हम आध्यात्मिक माँगों के साथ ही न्याय करें तो दैनिक जीवन के विशुद्ध कार्य शायद ही उचित रूप से, पूरे होंगे। मनुष्य को सामाजिक प्राणी होना है; एक ओर तो उसे अपनी सारी शारीरिक इच्छाओं और अपनी स्वार्थपरता को खुली छुट्टी नहीं देनी होगी; और दूसरी

---

*पृष्ठ १२०-१ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

ओर उसे कभी-कभी कम से कम उन सीमाओं में, जिनकी हमने चर्चा की है,* उस साधन को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना होगा, जिसके विरुद्ध नैतिक आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं और अगर आवश्यक हो तो उसे उन दोनों में से कम अशुभ का वरण करने में समर्थ होना होगा। कोई भी सर्वग्राही निरपेक्षता, जैसाकि हमने देखा है, ज्ञान को झुठलाती है और इससे उसके अस्तित्व की शर्तों द्वारा मनुष्य पर आरोपित सीमाओं पर हम ध्यान भी नहीं देते।

फिर भी मनुष्य की प्रकृति के इन दोनों पक्षों के बीच अन्तर स्पष्ट है—इन्हीं अन्तरों से उसकी "यथार्थ" प्रकृति के सम्बन्ध में किसी निर्णय पर पहुँचने में सहायता मिलती है। किसी निरपेक्षता की इच्छा करना उसके लिए न्यायोचित है, हमने कहा है कि अपने अस्तित्व में रहने का निरपेक्ष ज्ञान उसे इस बात की चुनौती देता है कि वह इस अव्याख्येय तथ्य** के अर्थ के प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर ढूंढ़े। परन्तु चूंकि यह उत्तर सामान्यीकृत और सर्वग्राही कथन के रूप में नहीं हो सकता अतः इसे किसी विशिष्ट दिशा में ढूंढना चाहिये।

परन्तु यदि हम पाशविकता की दिशा की ओर देखते हैं तो यह सीमित निरपेक्षता भी नहीं मिल सकती, क्योंकि इसके प्रति पूर्ण और उन्मुक्त रूप से झुकने से मनुष्य निस्सन्देह भ्रष्ट हो जायगा। हम महान् जीवन-शक्ति महान् विजेता, और महान् अपराधी की भी, प्रशंसा करते हैं, किन्तु इस प्रशंसा को निर-पेक्ष नहीं बनाया जा सकता हैं यह हमें सभी प्रकार के नुकसान पहुँचाये जाने-वाले कार्यों, हत्याओं की अवहेलना करने के लिए बाध्य करता है। नीत्ट्शे का मानव भी, मनुष्य की पाशविक वृति पर किसी आदर्श को आधारित करने का सबसे महान् और संगत प्रयास है, यह देखने में हमें सहायता ही प्रदान करता है कि यह अवश्य असफल होगा। किन्तु पूर्ण सामंजस्य और चरम सन्तुष्टि उन अनुभूतियों में प्राप्त हो सकती है जो मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति को अधिक यथार्थता प्रदान करती हैं, और यहाँ बिना प्रतिबन्ध के निरपेक्षता को स्वीकार किया जा सकता है, सामंजस्य और सन्तुष्टि सबसे महान् होगी जब उस प्रकृति की पूर्ण अनुभूति प्राप्त होगी, जो सभी व्यावहारिक माँगों के परे होगी। यह देखने के लिए कि यह दावा न्यायोचित है हमें कीर्केगार्ड के "अज्ञात में छलाँग मारने" या "मैं—तू" सम्बन्ध के बारे में विचार करने की आवश्यकता है।

---

*पृष्ठ ७४-५ देखिये।

**पृष्ठ १३७ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इस प्रकार की अधिकांश अनुभूतियों में एक तत्त्व है—नैतिकता, जो आसानी से देखा जा सकता है। मनुष्य की यथार्थ प्रकृति के वर्णन के रूप में कीर्केगार्ड की "नैतिक आत्मा" को स्वीकार करने में क्या कोई आपत्ति है ? एक ओर तो नीतिशास्त्र दर्शन की सीमाओं में अभी भी रखता है, जैसाकि स्वतन्त्रता के बारे में हमारी चर्चा माँग करती है; नैतिकता धर्म का वह पक्ष है जिसकी दार्शनिक रूप से चर्चा हो सकती है। दूसरी ओर, जबकि मनुष्य अपनी प्रकृति के इस पक्ष को अभिव्यक्ति देता है तो किसी प्रतिबन्ध की आवश्यकता नहीं है; इस प्रकार नैतिक आत्मा पर आधारित वरण उन माँगों को पूरा करते हैं जिन्हें हमने स्वतन्त्रता-वरण की संज्ञा दी है, वे फिर मनुष्य को गुलाम नहीं बनायेंगे। यह सच है कि नैतिकता के संकीर्ण अर्थ-प्रतिपादन से भी मनुष्य गुलाम बन जा सकता है; किन्तु कीर्केगार्ड ने यह दिखला दिया है कि अनुभवातीत सत्ता के मानवीय अस्तित्व में नैतिक आत्मा को समझना होगा, अन्यथा प्रेम को वश में नहीं रखा जा सकता।* इससे मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति की पूर्णता प्रकट होती है, और यह हमें—प्रेम करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देगी।

सम्भवतः दूसरी आपत्ति अभी भी उठायी जा सकती है—कि यह चक्रक युक्ति है : स्वतन्त्रता की परिभाषा इस रूप में दी गयी है कि इसमें मनुष्य की यथार्थ प्रकृति द्वारा मार्ग निर्देशन की अपेक्षा होती है, और तब इस प्रकृति की परिभाषा स्वतन्त्रता की माँगों के अनुसार दी जाती है। लेकिन एक बार जब हम अस्तित्व की नींव तक पहुँच जाते हैं, इस प्रकार की युक्ति अनिवार्य और उचित है क्योंकि और कोई उपाय सम्भव नहीं है, आधारभूत तत्त्व एक दूसरे की ओर ही संकेत कर सकते हैं। यह बात कि कोई और युक्ति सम्भव नहीं है इस बात की भी पुष्टि करती है कि हम नींव तक पहुँच गये हैं।

एक बार फिर इसकी पुष्टि हमारी वास्तविक अनुभूति से होती है। स्वतन्त्रता के क्षेत्र को सैद्धान्तिक रूप से सीमित नहीं किया जा सकता, हम यह नहीं कह सकते कि वहाँ तक हम स्वतन्त्र हैं और हमारी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। प्रयत्न-त्रुटि से हमें आगे बढ़ना चाहिये, जिससे हम इस बात का पता लगा सकें कि क्या स्वीकार करना है और किसमें परिवर्त्तन किया जा सकता है, हमें स्वतन्त्रता की सीमाओं का निरन्तर परीक्षण करना होगा। ऐसा करने के लिए सबसे अच्छा प्रारम्भ यह होगा कि हम अपनी यथार्थ प्रकृति के रूप में नैतिक

---

* पृष्ठ ६६-७ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

आत्मा को स्वीकार करें और इसके अनुसार कार्य करें, अगर हम इस प्रकार आरम्भ करें तो स्वतन्त्रता और यथार्थ आत्मा के बीच पारस्परिक प्रभाव धीरे-धीरे दोनों को स्पष्ट करेगा। प्रत्येक सही निर्णय अपनी प्रकृति को अच्छी तरह पहचानने में हमें सहायता प्रदान करेगा, यह हमें उन क्षेत्रों को दिखलायेगा जहाँ हम केवल अपनी आज्ञा के अनुसार वास्तव में कार्य कर सकते हैं, हम यह अनुभव करेंगे कि हम स्वतन्त्र कर दिये गये हैं। इसके द्वारा सही निर्णयों पर पहुँचने की ओर अधिक निश्चितता होगी और फिर इन निर्णयों से हमें अपनी यथार्थ आत्मा का अधिक विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त होगा। धीरे-धीरे हमारी आन्तरिक अनुभूतियों का क्षेत्र विस्तृत होगा, इससे नैतिकता के धार्मिक निहितार्थ प्रकट होंगे और इस प्रकार "आध्यात्मिक यथार्थता" शब्द का और अधिक अर्थ स्पष्ट होगा।

हमें यह स्वीकार करना होता है कि अनिवार्यता और स्वतन्त्रता की समस्या का समाधान भी तर्कनापरक रूप से नहीं हो सकता है। बाह्य सत्ता में दोनों सम्प्रत्यय विशुद्ध रूप से आकारित रहते हैं, अनिवार्यता का यह अर्थ होता है कि सभी कार्य उनके कारणों से निर्धारित होते हैं, वे कार्य भी, जिनके कारण हम नहीं जानते या अभी तक हम नहीं जानते लेकिन मानवीय स्वतन्त्रता का यह अर्थ होगा कि मनुष्य का एक नया संकल्प किसी कार्य का प्रथम कारण हो सकता है जिसका निर्धारण अन्यथा नहीं हो सकता। इस प्रकार के प्रथम कारण का, प्राकृतिक नियमों के जगत् में, कारण नहीं बताया जा सकता, क्योंकि इनमें अपवादों को स्थान नहीं दिया जाता; इसे उस सम्भाव्यता के क्षेत्र में भी नहीं रखा जा सकता, जिससे अनिवार्यता के सम्बन्ध में कुछ निश्चितता आ गयी है। मानवीय स्वतन्त्रता की स्वीकृति अबुद्धिवादी रह ही जाती है। किन्तु फिर एक बार ये दो सम्प्रत्यय, जबकि वास्तविक रूप से इनकी अनुभूति की जाती है, तटस्थ नहीं रहते, अनिवार्यता, बाह्य और आन्तरिक बाध्यता के रूप में इस विश्व में हमारा स्थान दिखलाती हुई, जिसमें परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता, और स्वतन्त्रता मानवीय प्रकृति की बहुमूल्यता और पूर्णता तक पहुँचने का मार्ग खोलती हुई तथा यह हमें दिखलाती हुई कि अत्यधिक महान् चुनौतियों के सामने, यह अपने को अक्षुण बनाये रह सकती है। इन दो सम्प्रत्ययों के बीच व्याघात हमारे कार्यों का मार्ग-दर्शन कर सकता है, हालाँकि वह असमाधेय है और यदि यह करता है, अबुद्धितत्त्व का फिर अर्थ निकलेगा और यह उस अवितर्कनापरक सत्ता की ओर संकेत करेगा जो धर्म को अन्तर्वस्तु प्रदान करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

इसी प्रकार के निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए और उदाहरण आसानी से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, दर्शन प्राचीन मूलभूत समस्याओं में से तीसरी समस्या—अर्थात् एक और अनेक की समस्या। लेकिन जो पहले कहा जा चुका है उसमें और कुछ जोड़ने की हमें आवश्यकता नहीं।

बाह्य सत्ता को समझने के लिए, इन दो सम्प्रत्ययों का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि वे संख्याओं और गणित के आधार हैं। लेकिन वे भी अमूर्त रहते हैं और हम इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते कि बाह्य सत्ता हमें इस रूप में प्रतीत होती है, जिस रूप में हमें उनकी आवश्यकता है। हम अस्तित्व की एकता को समझने का निरन्तर प्रयास करते हैं और ऐसा करने में हम हमेशा असफल रहते हैं, क्योंकि अनेक का व्यवधान—उदाहरण के लिए यह तथ्य कि अनेक वस्तुएँ या अनेक मनुष्य हैं—दुस्तर और अव्याख्येय दोनों सिद्ध होता है।

आन्तरिक अनुभूतियों के सम्बन्ध में संख्याएँ लागू नहीं होतीं। अगर मैं दर्द का अनुभव करता हूँ और इससे कोई और दर्द का अनुभव करना आरम्भ करता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि दर्द की मात्रा दुगुनी हो गयी है, भावों का सम्बन्ध एक दूसरे से केवल मात्राओं के रूप में नहीं जोड़ा जा सकता। न ही नैतिक क्षेत्र में संख्याएँ लागू होती हैं, एक सुकरात विशाल जनसमुदाय के विरुद्ध उचित था, परिमाणात्मक सम्बन्ध— कि एक व्यक्ति की अपेक्षा बहुमत का अधिक महत्त्व होना चाहिये—उचित और अनुचित के मामले में महत्त्व नहीं रखता था, हालाँकि व्यावहारिक प्रभाव में यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। फिर भी, आन्तरिक अनुभूति में एक और अनेक हमारे लिए यथार्थ हो जाते हैं, क्योंकि हम अनेक में एक व्यक्ति हैं, कई मनुष्यों में मनुष्य हैं। इस प्रकार की जो अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं उनकी छानबीन "मैं–तू" सम्बन्ध पर विचार-विमर्श करते समय की जा चुकी है। परन्तु इस सम्बन्ध से भी समस्या का समाधान नहीं हो जाता, जो इन दो सम्प्रत्ययों से उत्पन्न होती हैं; हम यह नहीं जानते कि अनेक एक-व्यक्ति क्यों हैं, सामान्य आधार पर भिन्न मनुष्य कैसे मिलते हैं, "मैं", "तू" और इसके अतिरिक्त "यह" क्यों है और इनमें से क्यों कभी किसी को छोड़ा नहीं जा सकता। फिर भी हमारे अस्तित्व को अर्थ प्रदान करने के लिए ये दो सम्प्रत्यय विश्वसनीय मार्गदर्शक हैं। एक और अनेक भी तटस्थ नहीं हैं; अगर हम इस दिशा का अनुसरण करते हैं तो वे बतलाते हैं कि हमारी अनुभूति से अधिकतम सम्भव सन्तुष्टि प्राप्त होगी और मानवीय "तू" के साथ मिलने से हम अन्तिम "तू" की अनुभूति प्राप्त करने में समर्थ होंगे। हम ईश्वर के सामने रहेंगे।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

दर्शन के क्षेत्र से लिये गये इन उदाहरणों ने भी सम्भवतः यह दिखलाया है कि वही धर्म अबुद्धितत्त्व को एक सार्थक अनुभूति में कैसे रूपान्तरित करता है। अधिकांश धर्म कई ऐसे व्याघातों का प्रयोग करते हैं जो बाहर से देखने पर निरर्थक रूप में अतर्कनापरक प्रतीत होते हैं, लेकिन जब इनकी अनुभूति की जाती है तब अभिगम्य बनाने में सहायक होते हैं जो अन्यथा भाषा में व्यक्त नहीं हो सकती। हमारे विचारों को, विपरीत दिशाओं में, चरम सीमाओं तक ले जाया जाता है जहाँ तक वे पहुँच सकते हैं, लेकिन निरपेक्ष विरोधाभास, एक बार इसकी अनुभूति हो जाने पर अर्थ देता है।

उदाहरण के लिए, ईसाई धर्म में, निर्णय और अनुकम्पा हैं। ये पूर्णरूप से व्याघाती हैं, किन्तु केवल तार्किक विचार को दोनों की ओर ले जाया जाता है। अगर प्रत्येक व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है, जैसाकि ईसाई मत दावा करता है, उसके कार्य यथार्थ रूप से महत्त्वपूर्ण होने चाहिए, जिससे कि उसके सम्बन्ध में अन्तिम स्थिति तक निर्णय किया जाय। एक ओर तो ईश्वर की अनुकम्पा को सीमित नहीं किया जा सकता; किसी प्रकार का सीमाकरण या प्रतिबन्ध ईश्वर सम्बन्धी ईसाई अवधारणाओं में स्थान नहीं पा सकता। हमें एक ही साथ निर्णय और अनुकम्पा दोनों के सम्बन्ध में विचार करना है; क्योंकि अगर हम निर्णय पर ही बल देंगे तो ईश्वर प्रेम का ईश्वर नहीं रह जायगा; और अगर हम अनुकम्पा पर ही बल देंगे तो इस बात का महत्त्व कैसे हो सकता है कि इस प्रेम के योग्य होने के लिए हम क्या करते हैं और क्या हमें प्रयास करना चाहिये ? हम आलसी बना रहना पसन्द करेंगे। परन्तु अगर हम व्याघात को स्वीकार करते हैं तो हमारे भाव धीरे-धीरे हमारे लिए एक नया सामंजस्य प्रकट करेंगे। अगर हम अपने पाप के सम्बन्ध में भग्नाशा में हैं और अपने पापों से गिर गये हैं तो इस ज्ञान की अनुभूति मुक्तिदायक अनुकम्पा के रूप में हो सकती है कि निर्णय देना हमारा काम नहीं है, ईश्वर का काम है। अगर हम कठोर है और अपने पापों से अवगत नहीं हैं तो अनुकम्पा का वास्तव में अर्थ क्या है, उसकी सहसा अर्न्तदृष्टि से हमें अपने पूर्ण अर्थ के साथ पापों का पता चल जाता है, जिससे अनुकम्पा की अनुभूति कठोर दण्ड के रूप में होती है। फिर भी, इस "भय और कम्पन" से आस्था आती है और इस प्रकार हम केवल अमूर्त धारणाओं में अपनी अनुभूतियों या ईश्वर के सम्प्रत्यय को घटाने के खतरे में अब नहीं रखते।

पूर्वनियति और संकल्प-स्वान्तत्र्य की समस्या समान है। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म के आधार पर तार्किक विचार को दोनों निष्कर्षों पर आना होगा—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

अर्थात् हमारे जीवन पहले से ही निश्चित हैं और साथ ही हम जो भी कर रहे हैं, उनके लिए उत्तरदायी हैं और स्वतन्त्र हैं। अगर ईश्वर सर्वज्ञ है तो वह आरम्भ से ही हमारी नियति को जानता है और हम उसमें परिवर्त्तन नहीं कर सकते। लेकिन अगर हमारे जीवन को किसी महत्त्व का होना है, तो उसे पूर्णरूप से पूर्व-निर्धारित नहीं किया जा सकता, किसी ऐसी अनिवार्यता से भी नहीं जो ईश्वर की इच्छा पर निर्धारित हो। धर्म का अर्थ तो हमें स्वतन्त्र करना है। कोई व्याख्या जिसका झुकाव एक या दूसरे पक्ष पर है ईसाई मत के मिथ्याकरण की ओर अग्रसर करेगी ही; केवल पूर्वनियति पर बल देने से हमारे कार्यों का महत्त्व समाप्त हो जायगा और हम ईश्वर के हाथों की कठपुतली-मात्र बन जाते हैं; केवल स्वतन्त्रता पर बल देने से हम उस उदारवाद की ओर अग्रसर होंगे जो ईसाई धर्म को सभी विशेष लक्षणों से वंचित कर देता है। किन्तु अगर हम व्याघात को स्वीकार करते हैं और इसके साथ रहने का प्रयत्न करते हैं तो निरपेक्ष विरोधाभास हमें इस बात की अनुभूति करायेगा जिसका हमने उस समय वर्णन करने का प्रयास किया है जब काण्ट के "ऊपर तारों से खचित आकाश" और "आभ्यन्तर नैतिक नियम" की चर्चा कर रहे थे।

मुझे आशा है कि अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि अबुद्धितत्त्व एक अधि-तर्कनापरक अर्थ ग्रहण कर सकता है। अतः इस पर और विचार करने के बदले, मैं निष्कर्ष में, एक भिन्न प्रश्न उठाना पसन्द करूँगा— अबुद्धितत्त्व को निरर्थक और विनाशकारी रूप से हमारे जीवन पर हावी होने से रोकने के लिए दार्शनिक क्या कर सकता है, वह इस बात का सुनिश्चय कैसे कर सकता है कि इसका प्रस्ताव इस रीति से किया जाता है कि यह हमारे जीवन को इस रूप में समृद्ध करने में योग दे कि उन्हें अर्थ प्रदान किया जा सके? हमारी चर्चा से इस बात का पता चल गया है कि यह किया जा सकता है, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी वर्त्तमान स्थिति में, कुछ ही लोग इससे अवगत हैं, अर्थात् ऐसा करने का प्रयत्न लगभग असफल ही रहता है। इस प्रयत्न का समर्थन करने और हमारे जीवन पर इसका प्रभाव डालने के लिए दार्शनिक क्या कर सकता है?

अभी हमारा सामना एक विरोधाभास से होता है जो उन विरोधाभासों से भिन्न है, जिनकी अब तक हमने चर्चा की है। एक ओर तो विश्व की कोई शक्ति विज्ञान की प्रगति को रोकने में समर्थ नहीं दीखती, और न यह वांछनीय प्रतीत होता है, दूसरी ओर हम अब एक ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं कि जिसमें

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

विज्ञान की प्रगति पर नियन्त्रण रखना होगा, एक ऐसी स्थिति जिसमें मनुष्य को इतना शक्तिशाली होना चाहिये कि वह उन खतरनाक नयी खोजों का प्रयोग करना छोड़ दे जिनसे मानवीय अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो गया है। ऐसी स्थिति सामने आ जाने से दार्शनिक की शक्ति निश्चय ही अत्यधिक छोटी हो गयी है, लेकिन हमारे कई उदाहरणों से इस बात का पता चल गया है कि उसकी स्थिति एकदम निराशाजनक नहीं है; पुस्तकों के अननुमेय परिणाम निकल सकते हैं, ये शक्ति का प्रयोग कर सकती हैं। उसके प्रयासों का महत्त्व सिद्ध करने के लिए, दार्शनिक को इस महत्त्वपूर्ण विरोधाभास पर विचार करना चाहिये।

किसी सम्भावित परिवर्त्तन की पूर्वापेक्षा यह है कि हम समस्या को स्पष्ट रूप से देखें, और यह कार्य दर्शन के क्षेत्र में आता है। यह कहना साधारण हो गया है कि हमारी कठिनाइयों में से एक कठिनाई इस बात में निहित है कि हमारा नैतिक विकास वैज्ञानिक विकास से काफी पीछे पड़ गया है, और यह बात साधारण हो या नहीं, निस्सन्देह यह सही है। लेकिन इस प्रकार कहना और इसे यहीं तक छोड़ देना शायद ही यथेष्ट हो। इसका क्या अर्थ है इसे स्पष्ट करने के लिए, हमें एक दूसरी सामान्योक्ति को अस्वीकार करना है। समान रूप से अक्सर यह कहा जाता है कि विज्ञान तटस्थ है, अर्थात् यह वैज्ञानिक का काम नहीं है कि वह इस बात का निर्णय करे कि वह अपनी खोजों का किस प्रकार प्रयोग करे, यह काम तो राजनीतिज्ञ, समाज और हम सभी का है। परन्तु यह दावा अनुभूति के साथ न्याय नहीं करता। मानव-मन की शक्ति सीमित ही है; सीमाओं की उपेक्षा करना भी यहाँ एक दोष है; अगर मनुष्य की कुछ मानसिक शक्तियों का काफी विकास किया जाये, जैसाकि तर्कनापरक व्यक्ति काफी समय से, सम्भवतः शताब्दियों से करते आये हैं, अन्य मानसिक शक्तियाँ कमजोर पड़ जायेंगी और मानवीय मन अशक्त हो जायेगा। दूसरे शब्दों में विज्ञान भी तटस्थ नहीं है; इस पर अत्यधिक केन्द्रित करने से उन शक्तियों का विकास नष्ट हो जाता है जिनकी विज्ञान के उचित उपयोग का सुनिश्चित करने के लिए आवश्यकता पड़ेगी।

इस पुस्तक में इस समस्या का जो उत्तर हमने देने का प्रयास किया है उसमें इस बात का समर्थन किया गया है कि वस्तु निष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों विधियों का प्रयोग किया जाय जिसका अर्थ, वर्त्तमान परिस्थितियों में, वस्तुनिष्ठ विधि की सीमाओं को देखना और आत्मनिष्ठ विधि का और अधिक विकास करना है। कुल मिलाकर यूरोपीय विचारधारा चरम सिरे तक गयी है; मध्ययुग ने आध्यात्मिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

समस्याओं पर एकान्तिक रूप से इतना केन्द्रित किया कि प्रतिक्रिया के रूप में, बाह्य, भौतिक सत्ता पर अत्यधिक केन्द्रित करना अनिवार्य हो गया। मध्ययुग से कुछ छोटे व्यतिक्रम तो हुए हैं, लेकिन एक सिरे से दूसरे सिरे तक इस आन्दोलन पर शायद ही उनका प्रभाव पड़ा है। अभी भी हमारे ऊपर दूसरे सिरे का आधिपत्य है, लेकिन ऐसे लक्षण हैं कि प्रतिक्रिया हो सकती है और फिर दूसरे सिरे की ओर हम अग्रसर होंगे। किसी को यह नहीं भूलना चाहिये कि महाविपत्ति, या मोहभंग भी या उदासीनता प्रतीयमानतः असम्भाव्य विकासों को सम्भव बना सकती है। निरपेक्ष अस्तित्ववादी अवस्तुतता, भग्नाशा, निरर्थकता को ग्रहण करते हैं; वे निरर्थक अबुद्धितत्त्व को स्वयंसाध्य के रूप में स्वीकार करते हैं, और आधुनिक जीवन के कई क्षेत्रों में निरर्थकता आकर्षक सिद्ध हुई है। परन्तु विज्ञान के विरुद्ध कोई भी ऐसी उग्र प्रतिक्रिया स्पष्टः गलत होगी, जैसाकि अस्तित्ववाद की कुछ अभिव्यक्तियों से पता चलता है; हमारा कार्य एक प्रकार का सन्तुलन, उन दोनों सिरों के बीच सम्बन्ध लाना है जोकि दोनों पूर्ण जीवन के लिए आवश्यक है। वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ विधियाँ दोनों के साथ न्याय करती हैं, अतः उनके सही प्रयोग से सन्तुलन की सृष्टि हो सकती है।

आत्मनिष्ठ विधि को उचित महत्त्व देने के लिए (जिसकी आज बहुत थोड़े लोग प्रशंसा करते हैं) दार्शनिक को एक ऐसे उत्तेजक कदम का समर्थन करना चाहिये, जो कुछ अस्तित्ववादियों ने उठाया है, हालाँकि इसने सम्भवतः अभी अधिक ध्यान आकर्षित नहीं किया है। उन्हें इस बात का आग्रह करना चाहिये कि "सत्य" शब्द का प्रयोग वैज्ञानिक कथनों के लिए नहीं किया जाना चाहिये, प्रत्युत केवल उसी सत्य के लिए, जिस पर हम जीते हैं और जिसे आत्मनिष्ठ विधि प्रकट करती है।

हमने पहले कहा है कि हमें दो भिन्न प्रकार के सत्यों को स्वीकार करना चाहिये और उदाहरण के रूप में विश्वकोष के प्रयोग को, हालाँकि इसमें कई सही कथन होते हैं, शायद ही उस सत्य के भण्डार के रूप में समझा जायगा, जिसपर हम जीते हैं।* हमने उस सत्य का भी उल्लेख किया है, हालाँकि हम उसके कुछ ही पक्षों को समझ सकते हैं, जो मूलभूत रूप से एक है और अगर अवैक्तिक वैज्ञानिक कथनों को सत्य के रूप में स्वीकार किया जाता है तो सम्पूर्ण सत्य विकृत

---

* पृष्ठ ९९ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

कर दिया जायगा।† इस कारण से यह सम्भवतः अच्छा होगा कि दोनों प्रकार के सत्यों के बारे में बात ही न करें, प्रत्युत वैयक्तिक अनुभूति के क्षेत्र तक ही इस शब्द का प्रयोग सीमित रखें।

अभी हाल तक सत्य को केवल निरपेक्ष मूल्यों में से एक समझा जाता था। यह दावा हमारे लिए अपना अर्थ खो चुका है; जब हम सत्य के बारे में विचार करते हैं तो सम्भवतः पहले सही वैज्ञानिक कथनों के बारे में विचार करते हैं और शायद ही हम समझ पाते हैं कि सत्य को निरपेक्ष मूल्य क्यों कहना चाहिये। फिर भी महत्वपूर्ण वैयक्तिक अनुभूतियों में हम निश्चय ही कभी भी एक ऐसा सत्य खोजते हैं या ऐसे सत्य से मिलते हैं जिसका वर्णन निरपेक्ष मूल्य के रूप में हो सकता है। इस दावे का कि सत्य एक प्रकार का मूल्य है, यह अर्थ होता है कि हमें इसे अपने लिए बहुमूल्य रूप में देखना है; इसमें हमारे निर्णय की आवश्यकता होती है; और इस निर्णय को पूर्ण विश्वसनीय बनाने के लिए सत्य को हमारे जीवन पर प्रभाव डालना है; इसमें वैयक्तिक सहभागिता की अपेक्षा होती है, इस पर चलना चाहिये। यह सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसे "अपने प्रकाश में चमकना चाहिये,"[१] इसे सत्य के सम्बन्ध में हमारी भावना को इतना अच्छा लगना चाहिये कि इसे अस्वीकार करने का अर्थ हमारी समस्त अनुभूतियों का पूर्ण खण्डन हो, और वास्तव में, सत्य के रूप में जिसकी अनुभूति प्राप्त करते हैं उसके प्रकाश में यह निरर्थक प्रतीत हो। अगर हम ईमानदार हैं तो हम इसे स्वीकार करेंगे ही; अगर हम इसके विरुद्ध कार्य करेंगे तो हम अपने को काफी चोट पहुँचायेंगे, यह पत्थर से सिर फोड़नेवाली बात होगी। अपनी छानबीन से हमें कई ऐसे सत्यों, या सत्य के पक्षों का विशेष रूप से चौथे, पाँचवें और आठवें अध्यायों में, पता चल गया है। इस प्रकार के धर्मादेश कि हमें अपने पड़ोसी से प्रेम करना चाहिये, या हमें हत्या नहीं करनी चाहिये, और इस प्रकार की अनुभूतियाँ जैसे "मैं—तू" सम्बन्ध, स्पष्टतः इस बात की अपेक्षा रखती हैं कि उन्हें सत्य के रूप में स्वीकार किया जाय। स्वाभाविक रूप से चूँकि सत्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता, अतः अनुभव द्वारा इसका निरन्तर परीक्षण किया जाना चाहिये, और इसे दार्शनिकों तथा हममें से प्रत्येक के मुख्य कामों में से एक होना चाहिये, आज की उस सामान्य अभिवृत्ति के विपरीत जो विज्ञान में परीक्षण पर बल देते हैं, लेकिन सत्य के महत्त्वपूर्ण पक्षों को अर्द्धचेतनरूप से मान

---

† पृष्ठ १६३ देखिये।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

लेते हैं। परन्तु चूंकि हम चेतन या अचेतन रूप से, किसी प्रकार का सत्य स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते, हमें यह जानने का प्रयास करना चाहिये कि किस सत्य पर हम जीते हैं।

मैंने सत्य की समस्या पर और कहीं विचार किया है, और मैं उसे दोहराना नहीं चाहता।[1] लेकिन मैं आशा करता हूँ कि मैंने यह दिखलाने के लिए काफी कुछ कहा है कि "सत्य" शब्द के इस प्रयोग में इस परिवर्त्तन से आत्मनिष्ठ विधि के महत्व को समझने में सहायता मिलेगी और इससे विज्ञान और नैतिकता के बीच वह सन्तुलन लाने में, काफी सहायता मिलेगी, जिसका हमें अभाव है, हालाँकि कुछ लोगों के लिए, व्यावहारिक जीवन के अर्थ में, अभी भी छोटी देन लग सकती है। किसी अर्थ में यह बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। वैज्ञानिक शायद ही इसपर आपत्ति उठाएँ; विज्ञान की विभिन्न शाखाओं को जो समर्थन मिलता है अभी उसमें असंगति है; सामान्य रूप में महानतर सन्तुलन से विज्ञान के क्षेत्र में महानतर सन्तुलन आ सकता है। अगर कोई वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों विधियों की आवश्यकता महसूस करता है, आत्मनिष्ठ विधि पर बल देना अभी भी विज्ञानविरोधी नहीं है, हालाँकि आज इसकी काफी आवश्यकता है। दूसरी ओर इस बात पर बल देने से भी कि आत्मनिष्ठ विधि से सत्य की प्राप्ति हो सकती है, इस विधि का लाभ उठाने में सहायता मिल सकती है। साक्ष्य के रूप में अनुभव को स्वीकार करना है; लेकिन क्या इसका परीक्षण हमेशा सावधानी से किया जाता है? अगर वैयक्तिक अनुभूति को सत्य का एकमात्र साधन माना जाता है तो इस क्षेत्र में परीक्षण उसी प्रकार सुनिश्चित हो जायगा—अपने भिन्न रूप में—जिम प्रकार कि विज्ञान में और इस प्रकार आत्मनिष्ठ विधि का महत्त्व और इसकी विश्वसनीयता अधिक आसानी से पहचान में आयेगी। तब यह अस्तित्ववाद के परे एक अधिक सन्तुलित दर्शन की ओर ले जा सकेगी।

सच तो यह है कि हम अस्तित्ववाद के परे पहले ही चले आये हैं। न केवल निरपेक्ष अस्तित्ववाद के गलत दावों को पीछे छोड़ दिया गया है; अगर अबुद्धितत्त्व के सम्बन्ध में विवेचन सही है तो हमें कीर्केगार्ड के तप के परे "भय और कम्पन" पर उसके अत्यधिक बल के परे, उस आस्था-कर्म की ओर ले जाया जाता है चाहे यह अनिवार्यतः बुद्धि के परे ही क्यों न हो जिसका समर्थन बुद्धि द्वारा किया जा सकता है। यह सत्य है कि कीर्केगार्ड धर्म की सार्थकता तक पहुँचने के लिए, निरर्थकता द्वारा निविष्ट विभीषा का प्रयोग करता है; लेकिन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

निरर्थकता पर उसके बल देने से ईसाई धर्म की अपेक्षा अधिकांश आधुनिक अस्तित्व-वादियों पर अधिक प्रभाव पड़ा है और इस प्रकार अबुद्धितत्त्व की निरर्थकता के विरुद्ध निराशोन्मत संघर्ष उनके दर्शन का एक-एक लक्षण बन गया है। कई कम उग्रवादी अस्तित्ववादी, जो "निरपेक्ष" नहीं कहला सकते, विनाशकारी अनुभूतियों* पर ही ध्यान देते हैं। ब्यूबर जैसे दार्शनिक असाधारण अपवाद हैं। परन्तु इस अध्याय में हमने यह दिखलाया है कि अबुद्धितत्त्व को, दर्शन और धर्म दोनों में निरर्थक रूप में देखने की नहीं आवश्यकता है, प्रत्युत् यह अर्थ दे सकता है और अनुभवातीत सत्ता को प्रत्यक्ष रूप से अर्थ प्रदान करता है। इस आधार पर, अस्तित्ववाद के उन सभी तत्त्वों को दर्शन में शामिल किया जा सकता है, जिन्हें हमने आवश्यकता और बहुमूल्य समझा, जो फिर एक बार अपने इस दावे को न्यायोचित ठहरा सकते हैं कि मानवीय मन के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयासों में से यह एक है।

---

* पृष्ठ १३५-६ देखिये।
इस प्रकार के अस्तित्ववाद की चर्चा हमने नहीं की है, लेकिन जैसपर्स का थोड़ा उल्लेख उदाहरण के रूप में काम कर सकता है।

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ

पृष्ठ : 2

1. फिलोसोफिक प्रॉब्लम्स ऑफ न्यूक्लियर साइन्स, लण्दन 1952, पृ० 93

पृष्ठ : 9

1. पेन्सीज़, सं० 267 (एवरीमैन लायब्रेरी)

पृष्ठ : 16

1. द रिबेल, (न्यूयार्क 1954), पृ० 5
2. वही 209

पृष्ठ : 21

1. एसेज़ ऑफ ए बायोलोजिस्ट, पृ० 176

पृष्ठ : 24

1. डाइ फ्रालिक विस्सेनशैफ्ट, 349 डार्विन पर माल्थस के जबरदस्त प्रभाव को देखते हुए यह टिप्पणी सम्भवतः सम्पूर्णरूप से अनुचित नहीं है।
2. द कम्प्लीट वर्क्स, डॉ० ओस्कर लिवी द्वारा सम्पादित, खण्ड 7 ह्यूमन आल ट्रू ह्यूमन, पृ० 43 (जहाँ मैंने प्रचलित अंग्रेजी अनुवादों का प्रयोग किया है, वहाँ मैंने उनके अंग्रेजी शीर्षकों से उनकी ओर निर्देश किया है और जहाँ मैने स्वयं अनुवाद किया है, वहाँ जर्मन शीर्षक दिये गये हैं)

पृष्ठ : 25

1. मेन्शलिचस ऑलजुमेन्शलिचस, 1, 501
2. वही 44
3. वही 50
4. वही 74
5. द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 7, ह्यूमन ऑल ट्रू ह्यूमन, पृ० 211
6. वही, पृ० 71
7. वही, पृ० 127

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पृष्ठ : 27

1. द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 10, द ज्यायफुल विजडम, पृ० 294
2. द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 5, वियोण्ड गुड एण्ड इविल, पृ० 117
3. मेन्शलिचस आलजुमेन्शलिचस, 1, 114
4. द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 7, ह्यूमन आल टू ह्यूमन

पृष्ठ : 28

1. मेन्शलिचस आलजुमेन्शलिचस, 1, 110
2. द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 5, वियोण्ड गुड एण्ड इविल, पृ० 189
3. मेन्शलिचस आलजुमेन्शलिचस, 1, 241
4. वियोण्ड गुड एण्ड इविल, पृ० 224
5. डाइ फ्रालिक विस्सेनशेफ्ट, 92
6. मेन्शलिचस आलजुमेन्शलिचस, 1, 447
7. गोटजेण्डेमरंग, मोरल आल्स वाइडरनेटर, 3
8. जुर जनेलाजी दर मोरल 1, 9, 11
9. द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 15, दि विल टू पावर, पृ० 20

पृष्ठ : 29

1. द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 10, दि ज्आय्रफुल विज़डम, पृ० 164
2. दर विल्ली जुर मेश्ट 634, क्रोनर प्रकाशन

पृष्ठ : 30

1. दं कम्प्लीट वर्क्स, वाल 15, दि विल टू पावर, पृ० 32

पृष्ठ : 31

1. द पोजेस्ड, एवरीमेन्स लायब्रेरी, II पृ० 254-55
2 आलसो स्प्राक जरथूस्ट्रा, II, अध्याय 2

पृष्ठ : 33

1. जेनसीट्स वान गुट आड बोस 199 और डाई फ्रोलिक विस्सेनशेफ्ट 362

पृष्ठ : 34

1. जेन्सीट्स वान गुट आड बोस 264
2. द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 16 दि टुवीलाइट ऑफ दि आइडल्स पृ० 47 और मेन्शलिचस आलजुमेन्शलिचस 11, 278

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पृष्ठ : 35

1. द लिस्नर, खण्ड XLVI पृ० 878-9
(इटेलिक्स मेरा)

पृष्ठ : 36

1. वही

पृष्ठ : 37

1. दर फाल वैगनर 11

पृष्ठ : 38

1. लेटर्स टू हिज सिस्टर 20 मई, 1885 और 26 दिसम्बर, 1887

पृष्ठ : 39

1. डाई फ्रालिक विस्सेनशैफ्ट 125

पृष्ठ : 40

1. वही 125

पृष्ठ : 42

1. दर विल्ली जुर मैश्ट 693
2. वही 30
3. वही 23, 24
4. वही 36

पृष्ठ : 43

1. वही 38
2. वही 39

पृष्ठ : 44

1. वही 75
2. द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 15, दि विल टू पावर, पृ० 104

पृष्ठ : 45

1. दर विल्ली जुर मैश्ट 32
2. वही 29
3. वही 34

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पृष्ठ : 47

1. पेन्सीज़, सं० 205-6

पृष्ठ : 49

1. डाई फ्रोलिक विस्सेनशैफ्ट, वारीडी जुर 2 औस्गाबे, 3

पृष्ठ : 50

1. द कम्प्लीट वर्क्स, खण्ड 15 दि बिल टू पावर, पृ० 432

पृष्ठ : 51

1. दर विल्ली जुर मैश्ट पृष्ठ 226

2. वही पृष्ठ 229

पृष्ठ : 52

1. गोट्जेण्डेमरंग, 'डाई वर्ननफ्ट इन दर फिलॉसफी, 2

पृष्ठ : 56

1. रिपिटीशन, ऑक्सफोर्ड 1942, पृ० 112

2. वही, पृ० 114

पृष्ठ : 57

1. रिपिटीशन, पृ० 125

2. फियर एण्ड ट्रेम्बलिंग, प्रिंस्टन 1941, पृ० 44

पृष्ठ : 58

1. वही, पृ० 24

पृष्ठ : 60

1. वही, पृ० 187

पृष्ठ : 61

1. वही, पृ० 79

पृष्ठ : 62

1. फियर एण्ड ट्रेम्बलिंग के सभी तीन उद्धरण, पृ० 151-2

पृष्ठ ! 66

1. वर्क्स ऑफ लव, प्रिंसटन 1946, पृ० 289

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पृष्ठ : 67

1. वर्क्स ऑफ लव, प्रिंसटन 1946, पृ० 262
2. वही, पृ० 48
3. पेन्सीज, संख्या 280 एवं 277

पृष्ठ : 68

1 इस समस्या के सविस्तार प्रतिपादन के लिए पी० रूबिचेक का थिंकिंग इन अपोजिट्स, अ० VI और थिंकिंग टुवर्ड्स रेलिजन, अ० V देखिये।
2. दि ब्रदर्स कर्माजोव, एवरीमैन, 331

पृष्ठ : 69

1. वर्क्स ऑफ लव, पृ० 66, 50
2. वही, पृ० 58

पृष्ठ : 74

1. मेटाफिजिक दर सिटिन, 2. एक्सविनट

पृष्ठ : 83

1. एन इन्ट्रोडक्शन टू एथिक्स, लण्दन 1955, पृ० 122-3
2. हिस्ट्री ऑफ वैस्टर्न फिलॉसफी, लण्दन, 1946, पृ० 800

पृष्ठ : 91

1. उदाहरण के लिए, द वर्ल्ड एण्ड गॉड, लण्दन 1935, पृष्ठ 70-2 (आई एम पार्टली फॉलोइंग फार्मर्स थाट इन दिस कनक्लूडिंग पार्ट ऑफ दी चैप्टर) इस अध्याय के इस अन्तिम भाग में मैं आंशिक रूप से फार्मर की विचार-धारा का अनुसरण कर रहा हूँ।

पृ० : 94

1. मर्डर इन दि कैथेड्रल, लण्दन 1935, पृ० 44

पृष्ठ : 96

1. ग्रेस एण्ड पर्सनैलिटी, कैम्ब्रिज 1931, पृ० 62

पृष्ठ : 98

1. पेन्सीज, संख्या 277, 275, 30, 282

पृष्ठ : 100

1. कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टक्रिप्ट, प्रिन्सटन 1944, पृ० 281

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पृष्ठ : 101

1. कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टक्रिप्ट, प्रिन्सटन 1944, पृ० 116

पृष्ठ : 102

1. दि जर्नल्स, ऑक्सफोर्ड 1938, पृ० 153

पृष्ठ : 105

1. वही, पृ० 176
2. फियर एण्ड ट्रैम्बलिंग, पृ० 50

पृष्ठ : 106

1. दि जर्नल्स, पृष्ठ 544
2. कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टक्रिप्ट, पृ० 327
3. दि पाइण्ट ऑफ विड, ऑक्सफोर्ड 1939, पृ० 35

पृष्ठ : 117

ल' एक्सपीरिएन्स इण्टेरिर, पेरिस 1943, पृष्ठ 109 में कैथलीन रेने, द्वारा अनूदित पी० फाउलिक के एक्जिस्टेंसियलिज्म के निम्नलिखित कुछ उद्धरणों के लिए ऋणी हूँ। फ्रेंच एक्जिस्टेंसियलिज्म के सम्बन्ध में कुछ टिप्पणियों के लिए मैं इस पुस्तक का आभार प्रकट करना चाहूँगा।

पृष्ठ : 118

1. ल'एटर एट ले नीण्ट, पेरिस 1943, पृ० 393,633

पृष्ठ : 119

1. इन एक्शन, 12 और 27 दिसम्बर, 1944

पृष्ठ : 121

1. स्वतन्त्रता की समस्याओं के अगले विचार-विमर्श के लिए देखिये पी. रूबिचेक — थिंकिग टुवर्ड्स रिलीजन, पृष्ठ 173 फ. और थिंकिग इन अपोजिट्स, पृष्ठ 195

पृष्ठ : 122

1. सार्त्र, ल'एटरएट ले नीण्ट, पृ० 520-1

पृष्ठ : 123

1. ल नौसी, पेरिस 1942, पृ० 170, और ल'एजैडे रेसन, पेरिस 1945, पृ० 664
2. वाज इस्ट मेटाफिजिक ? फ्रेंकफर्ट एम मैन, 1949, पृ० 32

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies: AAIS(USA)

3. पाइरहस एट सिनीज़, पेरिस 1943, पृ० 67
4. बीइंग एण्ड टाइम, लण्दन 1962, पृ० 251

पृष्ठ : 124

1. जे. लाक एन एसे कन्सरनिंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग, बुक अ०
2. ल'एटरे एडले नीण्ट, पृष्ठ 225, हिडेगर ट्राइज़ टू एवाइड दिस कनक्लूजन, वट हिज फाइनल डेफिनिशन आफ बीइंग इज़ एम्प्टी, देखिए पृष्ठ 132. हिडेगर इस निष्कर्ष से वचना चाहता है किन्तु सत्ता की अन्तिम परिभाषा रिक्त है, पृष्ठ 132 देखिए ।
3. वही, पृ० 527

पृष्ठ : 125

1. इन एक्शन, 27 दिसम्बर, 1944

पृष्ठ : 130

1. इनफूरंग इन डाइ मेटाफिजिक, टुबिंगन 1953, पृ०, 154

पृष्ठ : 132

1. इन हिज वर्क बीइंग एण्ड टाइम ।

पृष्ठ : 139

1. आई एण्ड दाउ, एडिनवर्ग 1937, पृ० 11

पृष्ठ : 148

1. दास प्राबलम डेस मनस्कन, हैडलवर्ग 1948, पृ० 159-60

पृष्ठ : 151

1. इक्लिप्स ऑफ गॉड, लण्दन 1953, पृ० 68-9

पृष्ठ : 154

1. कम्पेयर कीर्केगार्डस् रिपिटीशन, पृ० 120

पृष्ठ : 156

1. इक्लिप्स ऑफ गॉड, पृ० 103

पृष्ठ : 157

1. वही, पृ० 166

पृष्ठ : 161

1. दि डिग्निटी एण्ड एडवांसमेण्ट ऑफ लर्निंग, बुक III चे० 4,
2. दि कन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी की दोनों परिभाषाएं ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पृष्ठ : 163

1. द नेचर ऑफ द यूनिवर्स, ऑक्सफोर्ड 1950, पृ० 105
2. फिलॉसफी डर नेटर, बर्लिन1950, पृष्ठ 246 फ०

पृष्ठ : 168

1. क्रिटिक्यू ऑफ प्रेक्टिकल रीजन एण्ड अदर वर्क्स आन दि थ्योरी ऑफ एथिक्स, लण्दन 1889, पृ० 260

पृष्ठ : 180

1. एच. एच. फार्मर, गॉड एण्ड मेन, लण्दन 1948, पृ० 18

पृष्ठ : 181

1. सी थिंकिग टूवर्डस् रिलीजन, अ० VII, और थिंकिग इन अपोजिट्स

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

जिन कृतियों का प्रकाशन कई संस्करणों में हुआ है, उन्हें केवल शीर्षक द्वारा उद्धृत किया गया है। अन्य कृतियों के लिए स्थान और प्रकाशन तिथि दी गयी है।

१. प्रामाणिक कृतियाँ

ब्यूबर, मार्टिन — आई एण्ड दाऊ, एडिनवर्ग १९३७, इक्लिप्स ऑफ गॉड लण्दन १९५३, बिटविन मैन एण्ड मैन, लण्दन १९४७

हीडेगर, मार्टिन — बीइंग एण्ड टाइम, लण्दन १९६२, एग्जिस्टेन्स एण्ड बीइंग, लण्दन १९४९, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू मेटाफिजिक्स, न्यू हैवेन १९५९

जैसपर्स, कार्ल — दि पेरेनियल स्कोप ऑफ फिलौसफी, लण्दन १९५०
मैन इन द मॉर्डन एज, लण्दन १९५१, रीजन एण्ड एग्जि-स्टेन्स, लण्दन १९५६

कीर्केगार्ड, सोरने — फियर एण्ड ट्रेम्बलिंग
रिपीटीशन
वर्क्स ऑफ लव
कनक्लूडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टक्रिप्ट
दि कन्सेप्ट ऑफ ट्रेड
दि जर्नल्स

नीट्ट्शे, फ्रेड्रिक — द ज्वायफुल विज़डम
ह्यूमन ऑल टू ह्यूमन
इस स्पेक जराथुस्ट्रा
बियोण्ड गुड एण्ड इविल
जेनेओलाजी ऑफ मोरल्स
दि विल टू पावर

सार्त्र, जाँ पाल — बीइंग एण्ड नथिंगनेस, लण्दन १९५७
नासिया–लण्दन १९६२
इक्जिस्टेन्शियलिजम एण्ड ह्यूमैनिजम लण्दन, १९४८

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

सहायक ग्रन्थ सूची

बैरेट, डब्ल्यू० — इरास्नल मैन, लण्दन १९६१

बर्डिएव, एन० — दि डेस्टिनी ऑफ मैन, लण्दन १९३७
स्लेवरी एण्ड फ्रीडम, लण्दन १९४३
दि रेयल्म ऑफ द स्पिरिट एण्ड
दि रेयल्म ऑफ सीज़र, लण्दन १९५२

बर्टाल, आर० — ए कीर्केगार्ड ऐन्थोलाजी, प्रिंस्टन १९४६

ब्राक, डब्ल्यू० — ऐन इण्ट्रोडक्शन टू कण्टेम्परेरी जर्मन फिलौसफी, कैम्ब्रिज, १९३३

कामू, ए० — दि रिबेल, लण्दन १९५३

कोहेन, ए० ए० — ब्यूबर, लण्दन १९५७

दोस्तोविस्की एफ० — नोट्स फ्राम अण्डरग्राउण्ड
दि पजेस्ड
दि ब्रदर्स करमजोव

फार्मर, एच० एच० — गॉड एण्ड मैन, लण्दन १९४८
दि वर्ल्ड एण्ड गॉड, लण्दन १९३३

फाउक्वि, पी० — एग्जिस्टेंशियलिज्म, लण्दन १९४८

ग्रीन, जी० ओ० — मेकर्स ऑफ मॉडर्न थॉट, लण्दन १९४८

गार्डिनी — फ्रीडम, ग्रेस एण्ड डेस्टिनि, लण्दन १९६१
द एण्ड ऑफ दि मॉडॅन वर्ल्ड, लण्दन १९५७

लीली, डब्ल्यू० — ऐन इन्ट्रोडक्शन टू एथिक्स, लण्दन १९५५

लोरी, डब्ल्यू० — ए शार्ट लाइफ ऑफ कीर्केगार्ड, लण्दन १९४३

लुबक, एच०डे० — दि ड्रामा ऑफ एथीस्ट ह्यूमैनिज्म, लण्दन १९४३

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

मैक्मुरे, जे० — रिजन एण्ड इमोशन, लण्दन १९३५
द सेल्फ ऐज एजेण्ट, लण्दन १९५७
पर्सन्स इन रिलेशन, लण्दन १९६१

मार्सल जी० — वीइंग एण्ड हैविंग
वेस्टमिनिस्टर, १९४९
द फिलौसफी ऑफ इग्जिस्टेंस, लण्दन १९४८

मुरडोक, आई० — सार्त्रे, केम्ब्रिज १९५३

ओमैन, जे० — ग्रेस एण्ड पर्सनेलिटी, केम्ब्रिज १९३१
द नेचर एण्ड द सुपर नेचुरल, केम्ब्रिज १९३१

पास्कल, बी० — पेन्सीज

रिण्टेलन, जे०वी० — वियोण्ड इक्जिस्टेंशियलिज्म, लण्दन १९६१

रूविचेक, पी० — द मिसइण्टरप्रिटेशन ऑफ मैन, न्यूयार्क १९४७
थिंकिंग इन औपोजिट्स, लण्दन १९५२
थिंकिंग ट्रवर्ड्स रेलिजन, लण्दन १९५७

* * *

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

पारिभाषिक शब्दावली (हिन्दी—अंग्रेजी)

हिन्दी	अंग्रेजी
अन्तःकरण	Conscience
अन्ध विश्वास	Superstition
अन्तिम	Absolute
अवस्तुता	Nothingness
अस्तित्व	Existence
अस्तित्ववाद	Existentialism
अबुद्धितत्व	Irrational
अनुभवातीत	Transcendental
अनुभूति	Experience
अधितर्कनापरक	Metalogical
अवचेतन	Subconscious
अचेतन	Unconscious
अशुभ	Evil
असत्	Unreal
अभिप्रेरक	Motive
अतिमानव	Superhuman
अतिवाद	Extremism
अपवाद	Exception
अनुमान	Inference
अवस्तु	Non-entity
अभ्युपगम	Postulate
अर्थक्रियावाद	Pragmatism

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हिन्दी	अंग्रेजी
अनुक्रिया	Response
अपवर्तन	Regression
अनुकम्पा	Grace
अमूर्त्त सम्प्रत्यय	Abstract concept
अमूर्त्त	Abstract
अनासक्ति	Detachment
अहम्	Ego
अन्तःप्रेरण	Inspiration
अन्तर्दृष्टि	Insight
अन्तर्वस्तु	Content
आत्मनिष्ठता	Subjectivity
आत्मनिष्ठ विधि	Subjective method
आनुवंशिकता	Heredity
आदर्शवाद	Idealism
आचार संहिता	Moral code
आत्मा	Self
आध्यात्मिक	Spiritual
आदर्श	Ideal
आस्था	Faith
इन्द्रिय	Sense
ईश्वर	God
उपागम	Approach
उत्तरदायित्व	Responsibility
उचित	Right
उपाधि	Condition
ऊर्जा	Energy
कसौटी	Criterion
कठोरतावाद	Rigorism
कम्पन	Trembling
कारक	Factor

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हिन्दी	अंग्रेजी
काल	Time
गुण	Merit
गेस्टाल्ट	Gestalt
घटना	Event
ज्ञान	Knowledge
चेतन	Conscious
जाति	Species
जुगुप्सा	Repugnance
तर्कवाक्य	Proposition
तर्कनापरक	Logical
तर्कीय प्रत्यक्षवाद	Logical Positivism
तथ्य	Fact
तथ्य निर्णय	Judgment of facts
तत्वमीमांसा	Metaphysics
तर्कदोष	Fallacy
द्वंद्वात्मक	Dilectic
दृढ़ विश्वास	Conviction
दृश्य जगत्	Phenomenal world
दिक्	Space
धर्म	Religion
धर्मशास्त्र	Theology
धर्मादेश	Commandment
नास्तिक	Atheist
नास्तिवाद	Nihilism
नैतिकता	Morality
नियति	Fate
निरपेक्ष	Absolute
निरुपाधिक	Unconditional
निलम्बन	Suspension
निरीश्वरवाद	Atheism

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हिन्दी	अंग्रेजी
नियम	Rule
निग्रहवाद	Rigorism
निर्णय	Judgment
निष्कर्ष	Conclusion
निःश्रेयस	Highest good
नियतत्ववाद	Determinism
परिणाम	Consequence
परीक्षण	Test
परिभाषा	Definition
पाप	Sin
पूर्वग्रह	Prejudice
प्रयोग	Experiment
प्रेक्षण	Observation
प्रकृति	Nature
प्रक्षेपण	Projection
प्रकृतिवाद	Naturalism
प्रकृति की एकरूपता	Uniformity of Nature
प्रगति	Progress
प्रयोजन	Purpose
प्रेरण	Motive
प्रत्यक्ष	Perception
पूर्व-नियति	Predetermination
पूर्ववर्तिता	Precedence
प्रारब्ध	Destiny
भय	Fear
भग्नाशा	Despair
भाव	Feeling
भौतिकवाद	Materialism
भ्रम	Illusion
मनोविज्ञान	Psychology

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हिन्दी	अंग्रेजी
मानवतावाद	Humanism
मूर्त्त	Concrete
मूर्त्त सम्प्रत्यय	Concrete concept
मूल प्रवृति	Instinct
मूल्य	Value
मूल्य-निर्णय	Judgment of value
मोक्ष	Liberation
रहस्यवाद	Mysticism
रीति-रिवाज	Custom
व्यष्टिवाद	Individualism
व्याघात	Contradiction
व्यक्तित्व	Personality
वरण	Choice
वस्तुनिष्ठता	Objectivity
वस्तुनिष्ठ-विधि	Objective method
वदतोव्याघात	Self contradiction
वास्तविकता	Reality
विचारण	Thinking
विश्वास	Belief
वैयक्तिक	Personal
विभीषिका	Horror, Terror
विषय	Subject
विरोधाभाषी	Paradoxical
शुभ	Good
सम्वन्धात्मक	Relational
संकल्प स्वातन्त्र्य	Freedom of will
संवेग	Emotion
संरक्षण	Conservation
संप्रत्यय	Concept
संप्रत्ययन	Conception

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

हिन्दी	अंग्रेजी
सम्भाव्यता	Possibility
स्पीशीज	Species
संशय	Doubt
संशयवाद	Scepticism
सत्	Real
सद्गुण	Virtue
सत्य	Truth
सापेक्ष	Relative
सापेक्षवाद	Relativism
सापेक्षता	Relativity
सामान्यीकरण	Generalization
सिद्धान्त	Doctrine

□ □

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

प्रत्येक व्यक्ति यदि अपना निरीक्षण (अन्तर्निरीक्षण) करे कि उसके व्यक्तित्व में (व्यक्तित्व स्वयं में एक ऐतिहासिक समष्टि उपज है) कितना अंश व्यक्ति परक है, और कितना अंश समष्टि परक है, तो वह पायगा कि उसके आत्मनिष्ठता से बाहर कुछ भी नहीं है. लेकिन आत्मनिष्ठता समष्टि में ही अभिव्यक्त होती है, और आत्मनिष्ठता असीम समष्टि के जिस बिन्दु पर चरितार्थ होती है, आत्मनिष्ठता - समष्टि को उसी सीमा तक आत्मसात कर, फिर वही तत्क्षण पूर्ण व्यक्ति परक हो कर शेष समष्टि में अपनी अभिव्यक्तिकरण के लिए उन्मुख होती है। ------

कैलाश
चन्द्र शर्मा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by American Academy of Indic Studies. AAIS(USA)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection